मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में समाजचित्रण

कलकत्ता विश्वविद्यालय में पी-एच० डी० उपाधि के लिए
प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

शोध-निर्देशक
डा० प्रबोध नारायण सिंह, एम० ए०, डी० लिट०
अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता

शोध-कर्त्री
मीजूरानी राय ([redacted]), एम० ए०
१९८३ ई०

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में समाजचित्रण

कलकत्ता विश्वविद्यालय में पी-एच० डी० उपाधि के लिए
प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

शोध-निर्देशक
डा० प्रबोध नारायण सिंह, एम० ए०, डी० लिट०
अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता

शोध-कर्त्री
बीजूरानी राय ([redacted]), एम० ए०
१९८३ ई०

विषय-सूची

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में समाज चित्रण

पृष्ठ संख्या

प्रस्तावना : ... ... 1 - 3

प्रथम अध्याय : ... 4 - 71

विषयप्रवेश :

[क]

समाज की परिभाषा, व्यक्ति और समाज, काव्य और सामाजिक जीवन, काव्य में चित्रित समाज के अध्ययन का प्रयोजन।

[ख]

गुप्तजी का जीवनवृत्त, गुप्तजी का व्यक्तित्व, गुप्तजी का रचना-काल, गुप्तजी की रचनाओं का कालानुक्रम, तत्कालीन परिस्थितियाँ, राजनीतिक परिस्थिति, साहित्यिक परिस्थिति, तत्कालीन परिस्थितियों का गुप्तजी पर प्रभाव, समकालीन समाज पर गुप्तजी का प्रभाव।

[ग]

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के लक्ष्य, गुप्तजी के काव्य में चित्रित समाज के अध्ययन का प्रयोजन।

द्वितीय अध्याय : ... 72 - 149

गुप्तजी के काव्य में दाम्पत्य जीवन का चित्रण।

पृष्ठ संख्या

तृतीय अध्याय: ... 150 - 257

गुप्तजी के काव्य में पारिवारिक चित्रण तथा अन्य परिजन के पारस्परिक सम्बन्ध :
पुत्र-पुत्री और माता-पिता के सम्बन्ध, भाइयों के पारस्परिक सम्बन्ध, भाई-बहन के सम्बन्ध, पितृव्य के सम्बन्ध, सास-ससुर और बहू-जामाता के सम्बन्ध, ननद-देवर और भाभी के सम्बन्ध।

चतुर्थ अध्याय: ... 258 - 309

व्यष्टि जीवन से सम्पर्कित विशिष्ट व्यक्ति:
कवि, प्रेमी-प्रेमिका, प्रेम में कुत्सा, सखी, मित्र, शत्रु, अतिथि, भृत्य, कुलगुरु, स्वजन-प्रतिवेशी, राजा, मुनि और विप्र, राजकर्मचारी।

पंचम अध्याय: ... 310 - 351

गुप्तजी के काव्य में धार्मिक जीवन।

षष्ठ अध्याय: ... 352 - 369

गुप्तजी के काव्य में रीति-रिवाज़ का चित्रण।

सप्तम अध्याय: ... 370 - 395

गुप्तजी के काव्य में मनोरंजन का चित्रण।

पृष्ठ संख्या

अष्टम अध्याय: ... 396 - 423

सामाजिक जीवन के अन्य पक्ष :

1- वर्ण-व्यवस्था।

2- राजनीतिक जीवन की झाँकी।

3- राज्य-विषयक विचार।

नवम अध्याय: ... 424 - 472

1- उपसंहार।

2- सहायक ग्रन्थ-सूची।

प्रस्तावना

राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरणगुप्त आधुनिक हिन्दी साहित्य में उदात्त मानवतावाद के पोषक माने जाते हैं। उन्होंने अपनी कृतियों में मानवतावादी दृष्टिकोण को उत्कृष्ट अभिव्यंजना प्रदान की है। उनके काव्य में विविध सामाजिक पक्षों की समस्त उद्बुद्ध चेतनाओं का व्यापक एवं सरस रूप देखने को मिलता है। उनके ग्रन्थों में विगत और वर्त्तमान का सुन्दर समायोजन तथा युगीन समस्याओं का समुचित समाधान मिलता है। अतएव उनके समाज-चित्रण का विश्लेषण, विवेचन और मूल्यांकन महत्त्वपूर्ण और उपादेय है। प्रस्तुत विषय पर कार्य करने की मूल प्रेरणा मुझे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० विजयपाल सिंह से प्राप्त हुई। आपने अनेक सन्दर्भ ग्रन्थों, सम्पर्क सूत्रों एवं विशेषज्ञ व्यक्तियों के विषय में बताकर मुझे पथ प्रदर्शित किया। गोरखपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० भगवती प्रसाद सिंह तथा विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० राममूर्ति त्रिपाठी के प्रति भी आभारी हूँ। इनसे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में जो मार्ग-दर्शन तथा प्रेरणा की प्राप्ति हुई उसके बिना यह शोध-कार्य कभी सम्पन्न नहीं होता। मैं प्रो० रमाकान्त पाठक एवं डा० कुवँर चन्द्र प्रकाश सिंह के प्रति विशेष आभारी हूँ, क्योंकि इनकी कृतियों से मैंने बहुत कुछ लाभ उठाया है। डा० प्रबोधनारायण सिंह के पाण्डित्यपूर्ण निर्देशन में मुझे कार्य करते हुए किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ। विद्वत्ता एवं सरलता के प्रतीक डा० सिंह ने मेरी हर समस्या का समाधान किया। उनके निर्देशन के अभाव में इस शोध-कार्य को पूर्ण कर पाना असम्भव था। मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती हूँ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध नौ अध्यायों में लिखा गया है। प्रथम अध्याय में समाज की परिभाषा, व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध, काव्य और सामाजिक

जीवन तथा काव्य में चित्रित समाज के अध्ययन के प्रयोजन पर विचार किया गया है। इसमें गुप्तजी का जीवन-वृत्त, रचना काल, रचनाओं का कालानुक्रम, एवं तत्कालीन परिस्थितियों पर विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय में गुप्तजी के काव्य में चित्रित दाम्पत्य जीवन का विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय में गुप्तजी के काव्य में पारिवारिक चित्रण तथा अन्य परिजनों के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन किया गया है। इसमें पुत्र-पुत्री और माता-पिता के सम्बन्ध, भाई-बहन के पारस्परिक सम्बन्ध और पितृव्य, सास-ससुर, बहू-जामाता तथा ननद-देवर और भाभी के पारस्परिक व्यवहारों पर भी विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में व्यष्टि जीवन से सम्पर्कित विशिष्ट व्यक्तियों पर विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है।

पंचम अध्याय में गुप्तजी के काव्य में धार्मिक जीवन की अभिव्यक्ति का विश्लेषण किया गया है।

षष्ठ अध्याय में सामाजिक रीति-रिवाजों तथा सप्तम अध्याय में कवि-चित्रित मनोरंजन के उपकरणों पर विचार किया गया है।

अष्टम अध्याय में वर्ण-व्यवस्था, राजनीतिक जीवन की झाँकी और कवि के राज्य-विषयक विचारों का विवेचन किया गया है।

नवम अध्याय में सहायक-ग्रन्थ-सूची के पूर्व संक्षेप में शोध-सार का उल्लेख किया गया है। गुप्तजी ने अतीत का गभीर अध्ययन और मनन करके उससे प्राप्त जीवनानुभूतियों के द्वारा वर्त्तमान को सम्वलित और समृद्ध बनाया है। उन्होंने वर्त्तमान के परिवर्त्तित परिवेश, समाज-सुधार तथा विज्ञानोपलब्धियों के साथ

अतीत का रसमय सामंजस्य उपस्थित किया है और भविष्य की संभावनाओं को प्रोज्ज्वल किया है। भविष्य के प्रति दृढ रूप से आस्थावान होने के कारण उन्होंने अतीत के समाज-तन्त्रों से वर्त्तमान के गांधीवादी सुधारों का समाधान ढूँढा है और विराट मानव-धर्म की भित्ति पर सामाजिक संस्कृति की अट्टालिका को स्थापित करने का प्रयास किया है। उनकी वैष्णवीय आस्था की इयत्ता ऐसी व्यापक है जिसके भीतर इसलाम, यहूदी और ईसाई आदि सभी मतों का सहज समाहार हो जाय। गुप्तजी की समस्त काव्य-कृतियों में अभिव्यक्त समाज का स्वरूप इस दृष्टि से आदर्श है। उन्होंने समाज की प्रक्रिया में सदैव अंधकार पर प्रकाश की और अनृत पर ऋत की जीत दरसायी है।

* * * * * *

प्रथम अध्याय

(क)

समाज की परिभाषा, व्यक्ति और समाज, काव्य और सामाजिक जीवन, काव्य में चित्रित समाज के अध्ययन का प्रयोजन।

(ख)

गुप्तजी का जीवनवृत्त, गुप्तजी का व्यक्तित्व, गुप्तजी का रचना-काल, गुप्तजी की रचनाओं का कालानुक्रम, तत्कालीन परिस्थितियाँ, राजनीतिक परिस्थिति, साहित्यिक परिस्थिति, तत्कालीन परिस्थितियों का गुप्तजी पर प्रभाव, समकालीन समाज पर गुप्तजी का प्रभाव।

(ग)

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के लक्ष्य, गुप्तजी के काव्य में चित्रित समाज के अध्ययन का प्रयोजन।

- क -

समाज की परिभाषा

समाज के स्वरूप को जानने से पहले "समाज" शब्द पर विचार कर लेना उचित होगा । "सम् पूर्वक अज् {अज् गतौ} धातु से "समज:", "समजम्" और समाज: शब्द का निर्माण हुआ है। पाणिनी की अष्टाध्यायी के अनुसार "अज्" का अर्थ है "जाना","परस्पर बाँधना" या "युक्त करना।" संस्कृत में पशु-पक्षियों के दल, झुण्ड या समूह को समज:, वन {वृक्ष समूह के दल} को समजम् और विशिष्ट मानवीय समुदाय विशेष को समाज: कहते हैं। समज् में अज् जोड़ने से पुँलिंग में समज: और नपुंसक लिंग में समजम् होता है और घञ् जोड़ने से समाज: होता है।"[1]

प्राचीन भारत के साहित्य में समाज का प्रयोग समुदाय विशेष के लिए होता आया है। उदाहरणार्थ --

" विशेषत: सर्वविदां समाजे
विभूषणं मौनमपण्डितानाम्।"[2]

इसी समाज शब्द का विशेषण सामाजिक होता है।

दैनिक भाषा में अथवा साधारण प्रयोग में समाज का अर्थ "व्यक्तियों के समूह { Group of individuals } से लिया जाता है, परन्तु इससे समाज शब्द का अर्थ पूर्णरूपेण स्पष्ट नहीं होता। इस प्रकार समाज शब्द का अर्थ संकुचित न होकर अत्यन्त व्यापक है। इसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। वस्तुत: समाज मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का प्रतीक है। ये पारस्परिक सम्बन्ध नाना प्रकार के हो सकते हैं, उदाहरणार्थ पिता, पुत्री,माता-पुत्र,

---

1- श्री प्रबोधनारायणसिंह - स्मारिका ; सम्पादक ; लक्ष्मीशंकर व्यास ; सन् 1971 ई0

2- भर्तृहरि - नीतिशतकम् ; श्लोक संख्या -7

सास-बहू, राजा-प्रजा, पिता-पुत्री आदि सम्बन्ध। इन पारस्परिक सम्बन्धों के माध्यम से ही समाज-सृष्टि सम्भव है। " समाज सम्बन्धों की एक व्यवस्था है और इसप्रकार पूर्णतया अमूर्तधारणा (Abstract Concept) है। जिस प्रकार जीवन में हम बहुत-सी शक्तियों का अप्रत्यक्ष रूप से अनुभव करते हैं और उसके द्वारा प्रभावित होते हैं, लेकिन उसके रूप को देख नहीं सकते, उसी प्रकार समाज को भी ऐसी ही एक शक्ति मान लेना उचित होगा, जिसकी अप्रत्यक्ष शक्ति द्वारा व्यक्ति प्रभावित होता है, लेकिन उसके रूप को देख नही सकता। इसका एक मात्र कारण यही है कि समाज व्यक्ति के दिन-प्रति-दिन के जीवन से संबंधित हजारों और लाखों प्रकार के संबंधों का जाल है, जिसका कोई मूर्त रूप निश्चित नहीं किया जा सकता।"[1]

सामाजिक सम्बन्धों के जाल का तात्पर्य उन असंख्य सामाजिक सम्बन्धों के नाना रूपों की व्यवस्था से है, जिनके द्वारा व्यक्ति एक दूसरे से सम्बन्धित रहता है। उदाहरण के लिए श्याम एक सामाजिक प्राणी है; अत: वह अपने परिवार, स्कूल, मित्र मण्डली, कार्यालय एवं राष्ट्र का सदस्य है। यद्यपि श्याम एक व्यक्ति है, लेकिन उसकी संबंधों की कोई संख्या, कोई सीमा निश्चित नहीं है।

सामाजिक क्षेत्र में वह किसी का भाई, पिता, बन्धु, चाचा, जेठ, साला, मामा, जीजा और इसीप्रकार सैकड़ों सम्बन्धों के द्वारा बँधा हुआ है। इसीप्रकार आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्र में कुछ व्यक्तियों से उसका सम्बन्ध सहयोग के कारण तथा कुछ से स्पर्धा के कारण है। इसी प्रकार अन्यान्य क्षेत्रों में भी उसके संबंधों की कोई निश्चित सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। इस प्रकार इतना ज्ञात हो जाता है कि अकेला व्यक्ति ही हजार प्रकार के संबंधों का निर्माण करता है और जब संसार के लाखों व्यक्ति एक दूसरे के संबंध में आकर प्रत्यक्ष

1- गोपाल कृष्ण अग्रवाल - मानव समाज ; पृ० सं० , 1964 ई० पृ०- 4

और अप्रत्यक्ष रूप से संबंधितरहते हैं तो उनके संबंधों का एक विस्तृत जाल-सा छा जाता है, जो एक निश्चित व्यवस्था के द्वारा व्यवस्थित रहता है।

समाजशास्त्री मैकाइवर ने संबंधों के इसी जाल को " समाज " की संज्ञा दी है।

भिन्न-भिन्न प्राच्य एवं पाश्चात्य दार्शनिकों तथा समाजशास्त्रियों ने समाज की परिभाषा भिन्न प्रकार से की है :-

मैकाइवर और पेज के अनुसार - " समाज रीतियों तथा कार्य प्रणालियों, अधिकार व पारस्परिक सहयोगों से सम्बन्धित अनेक समूहों, विभाजनों, मानव व्यवहार के नियंत्रणों तथा स्वतंत्रताओं की व्यवस्था है। इस सदैव परिवर्तित तथा जटिल व्यवस्था को ही हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक संबंधों का जाल है और सदैव परिवर्तित होने वाला है।"[1] (Society is a system of usages and procedures of authority and mutual aid, of many groupings and divisions, of controls and freedom. This everchanging and complex system we call society. It is the net-work of social relationships and it is always changing).

टालकट पार्सन्स ने समाज की परिभाषा देते हुए कहा है:-

" समाजउन मानव सम्बन्धों की पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो साधन तथा साध्य के सम्बन्ध द्वारा क्रियाओं को करने से उत्पन्न हुआ हो। वे चाहें यथार्थ अथवा प्रतीकात्मक हों।"[2] (Society may be defined as total complex of human relationships in so far as they grow out of action in terms of means and relationships,

---

1- मैकाइवर एण्ड पेज - सोसाइटी ; पृष्ठ - 3

2- टालकट पार्सन्स- एन्साइक्लोपीडिया आफ़ सोशल साइन्सेस; खण्ड-14 ; पृ० -231

intrinsic or symbolic).

कूले ने समाज की परिभाषा करते हुए लिखा है, "समाज रीतियों या प्रक्रियाओं का एक जटिल ढाँचा है, जो कि जीवित है और एक दूसरे के प्रभाव के कारण आगे बढ़ता रहता है एवं पूर्ण अस्तित्व में इसप्रकार की एकता पाई जाती है कि जो कुछ एक भाग में होता है, वह शेष पर प्रभाव डालता है। "1

(Society is a complex of forms or process each of which is living and growing by intraction with the others, the whole being so unified that what takes places in one part affects all the rest)

इन साइक्लोपीडिया आफ़ रिलीजन एण्ड एथिक्स में समाज (सोसाइटी) की परिभाषा इसप्रकार दी गयी है :- कुछ विशिष्ट सम्बन्धों द्वारा परस्पर संगठित मनुष्यों के उस निश्चित समुदाय को समाज कहते हैं जो इन सम्बन्धों के पोषण से वंचित लोगों से कुछ अंशों में भिन्न होता है।... समाज को एक ढाँचा कहा जा सकता है, जिसके निर्मापक तत्व मनुष्य होते हैं। जो किसी स्थायी और सुनिश्चित सम्बन्ध-सूत्र से परस्पर आबद्ध होकर जीवन-यापन करते हैं।

दार्शनिक जिन्सबर्ग के अनुसार - " समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जो कुछ सम्बन्धों अथवा व्यवहार-विधियों द्वारा संगठित है तथा उन व्यक्तियों से भिन्न है जो इसप्रकार के सम्बन्धों द्वारा बँधे हुए नहीं हैं अथवा जो व्यवहार में उनसे भिन्न हैं। "2 (A Society is the collection of individuals united by certain relations or modes of behaviour which mark them from others, who do not enter into those relations or who differ from them in behaviour). इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि अनेक व्यवहारों से सम्बन्धित विभिन्न समूहों से अनेक समाजों (definite collections of people) का निर्माण हुआ है, व्यक्तियों के इन विभिन्न समाजों से समाज का निर्माण हुआ है।

1- कूले॰ सी॰ एच - दि सोशल प्रोसेस ; पृष्ठ - 28
2- मौरिस जिन्सबर्ग - सोशियोलाजी ; पृष्ठ - 40

गिलिन ने भी सामान्यता के आधार पर समाज को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। आपके अनुसार - " समाज तुलनात्मक रूप से सबसे बड़ा और स्थायी समूह है जो सामान्य हितों, सामान्य भू भाग, सामान्य रहन-सहन तथा पारस्परिक सहयोग (espert de corps) अथवा अपनत्व (belonging) की भावना रखता है, जिसके आधार पर वे अपने को बाहर वालों से पृथक करते हैं।" (A Society is the largest relatively permanent group who shares common interests, common territory, a common mode of life and a common 'espert de corps' or 'belongingness', whereby they distinguish themselves from outsiders)[1]

रयुटर के विचारानुसार - " समाज पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का वह समूह है, जिसमें लोग स्वतन्त्र रूप से अपने सांस्कृतिक स्तर पर अपनी जाति को जीवित और कायम रखने में समर्थ हो सके।" (A Society is a permanent and continuing grouping of men, women and children, able to carry on independently the process of racial perpetuation and maintenance, on their own cultural level)[2]

लापियरे ने समाज को मनुष्यों के अन्त: सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था कहा है।[3]

अत: समाज की इन भिन्न-भिन्न परिभाषाओं से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि समाज मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों से निर्मित संस्थान है। समाज वास्तव में व्यक्तियों के पारस्परिक मिलन की उपज है। इसमें व्यक्ति

1- जे॰एल॰ गिलिन - दि वेस आफ़ मैन ; पृष्ठ - 340
2- रयुटर-डिक्शनरी आफ़ टर्म्स - सोशियोलाजी ; पृष्ठ - 157
3- लापियरे - सोशियोलाजी ; पृष्ठ - 37

एक दूसरे के पूरक होते हैं। हम समाज के नियमों से सम्बद्ध हैं। बाल्यकाल से लेकर बड़े होने तक मनुष्य को दूसरों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। माता प्रेम के कारण अपने पुत्र के लिए अनेक कष्ट सहन करती है, बालक अपने माता, पिता तथा अन्य सम्बन्धियों से प्रेम करता है। बड़ा होकर वह अपने पड़ोसी, नगर, देश तथा इससे भी आगे संसार से प्रेम करना आरम्भ कर देता है। अब इनमें से जिन-जिन से उसका सम्बन्ध तथा व्यवहार बढ़ता है वेही उसके समाज का अंग बनते रहते हैं। वस्तुतः मनुष्य एकाकी जीवन-यापन कर भी नहीं सकता, एकाकी प्राणी का कोई समाज नहीं होता, क्योंकि उसका किसीसे सम्बन्ध नहीं। अकेले ही मनुष्य अपने विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम नहीं हो सकता। आवश्यकताएँ भी निरन्तर बढ़ती ही जाती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे अन्य व्यक्तिओं से सम्बन्ध स्थापित करना ही पड़ता है इस प्रकार आपसी सम्बन्ध से मनुष्य एक प्रकार के व्यवहार को जन्म देता हैं। व्यवहारों का एक दूसरे के साथ यह सम्बन्ध परिस्थिति के अनुसार निरन्तर बदलता रहता है। अतः मनुष्यों के व्यवहारों के वे क्रम जिनमें वे एक दूसरे के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं और जो परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं, समाज का निर्माण करते हैं।

समस्त समाज के कार्य सामाजिक इकाइयों एवं विभिन्न संस्थाओं में बँट कर चलते हैं। श्री हरिदत्तवेदालंकार के विचार से, "सामाजिक इकाइयों में परिवार, वंश, गोत्र, एवं जनजाति को लिया जाता है एवं सामाजिक संस्थाओं में विवाह, शिक्षा, सम्पत्ति, कानून, राज्य और धर्म को लिया जाता है।"[1] समाज से ही परिवार की सृष्टि होती है। परिवार के अंतर्गत पर्व, उत्सव, खेलकूद, नृत्य संगीत एवं कहानी सुनाना आदि मनोरंजन के विविध साधन पाए जाते हैं। परिवार के अंतर्गत धर्म और शिक्षा सम्बन्धी कार्य समाज के ऊपर गहरा-प्रभाव डाला करते हैं।

1- हरिदत्तवेदालंकार - भारतीय समाज शास्त्र मूलाधार ; पृष्ठ - 37

व्यक्ति और समाज

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज में ही जन्म लेता है, उसी में उसका पालन पोषण होता है एवं समाज में ही रहकर एकदिन वह इस संसार से कूच भी कर जाता है। मनुष्य समाज में ही रहकर अपने को सर्वाधिक सुरक्षित समझता है। समाज से पृथक रहकर व्यक्ति अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं नहीं कर सकता। उसे " संघे शक्ति कलौयुगे " के अनुसार एक संघ या समुदाय की आवश्यकता पड़ती है। इसप्रकार व्यक्ति और समाज का घनिष्ट सम्बन्ध है। समाज हीन व्यक्ति कल्पनातीत है। व्यक्तिहीन समाज और समाज से असम्बद्ध व्यक्ति वायवीय लगता है। प्राचीनकाल से यह एक विवादास्पद प्रश्न रहा है कि व्यक्ति तथा समाज में किसका स्थान मुख्य है तथा किसका गौण है। वस्तुतः दोनों का चोला-दामन का साथ होने के कारण ही व्यक्ति एवं समाज परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। एक को दूसरे से पृथक करके सोचना असम्भव-सा जान पड़ता है। व्यक्ति समाज में रहकर ही नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त करता है एवं अपने प्राप्त अनुभवों से नित्यप्रति जीवन में विकास पथ पर अग्रसर होता है। यह सुविधा मनुष्येतर प्राणी को नहीं है, क्योंकि पशु प्रयत्न और भूल के द्वारा ही सीखता है। मनुष्य और पशु में पर्याप्त अन्तर है, यद्यपि मनुष्य के अतिरिक्त कुछ अन्य जीव (कीड़े, मकोड़े और चींटी) भी समुदाय बनाकर रहते हैं, एवं उनमें भी प्रेम, सहयोग और भोजन एकत्र करने की वृत्ति पाई जाती है। तथापि दोनों में बहुत अन्तर है। समाज मानव सम्बन्धों की एक अति सुन्दर व्यवस्था है। उसमें रहकर व्यक्ति अपने मूल-प्रवृत्तियों में पर्याप्त संशोधन एवं परिवर्तन करता है। वह (व्यक्ति) अपनी प्रकृति पर पूर्णरूपेण विजय प्राप्त कर लेता है। उसे क्रोध आने पर भी वह सबके समक्ष अशिष्ट आचरण नहीं करता जबकि पशु प्रायः इसके विपरीत कार्य करता है। इसप्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति का समाज से घनिष्ट संबंध है। वह समाज में रहकर ही अपने प्राप्त अनुभवों से अपने

ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि करता है। " गाय का बछड़ा जन्म लेने के बाद कुछ ही घंटों के उपरान्त दूध पीने के लिए गाय के थनों की ओर दौड़ता है जबकि मानव-शिशु को बड़े प्रयास से दूध पिलाया जाता है। आखिर क्यों? क्योंकि उसे जीवन में बहुत लोगों से सहयोग लेना है। अतः प्रारम्भिक अवस्था से वह उनका अभ्यास करता है ; वर्षों उसे दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता है। "1 अतः व्यक्ति और समाज की पृथक कल्पना करना व्यर्थ है। व्यक्ति समाज की एक इकाई है।

समाज की परिधि से बाहर जीवन-यापन करने वाले मनुष्य (व्यक्ति) में मानवीय व्यवहार की अपेक्षा पशु-आचरण अधिक दर्शित होता है, क्योंकि मनुष्य प्रारम्भिक अवस्था में पूर्णरूप से अनुकरणशील होता है, वह अपने आस पास के वातावरण से बहुत अधिक प्रभावित होता है। समाज के बाहर रहकर मानव-कल्याण असम्भव है। समाज में ऐसे गुण निहित हैं जो एक मनुष्य को व्यक्तिगत सत्ता प्रदान करके वास्तविक मनुष्य में परिवर्तित कर देता है। " जन्म के समय बच्चा न तो सामाजिक होता है और न ही समाज विरोधी, अपितु केवल सामाजिक होता है। तात्पर्य यह है कि जन्म के समय व्यक्ति की शारीरिक व मानसिक विशेषताएँ, प्रेरणाएँ, संवेग व मूलप्रवृत्तियाँ सभी कुछ एक कच्चेमाल की तरह होती हैं, जिनको कोई भी रूप प्रदान किया जा सकता है। समाज समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति को सामाजिक प्राणी के रूप में विकसित करता है। "2 अतः समाज और व्यक्ति को पृथक-पृथक रख कर विवेचित करना कठिन ही नहीं, अपितु दुष्कर कार्य है। जहाँ मानव समाज में रहकर अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करता है वहीं उसके अभाव में पशु-सदृश व्यवहार करने लगता है। यही नहीं, वास्तव में समाज और व्यक्ति यह दोनों एक दूसरे के

1- के० डी० अग्रवाल - माध्यमिक समाजशास्त्र ; सं० 1957 ई०; पृ० - 106

2- गोपालकृष्ण अग्रवाल - मानवसमाज ; सं० सन् 1964 ई० ; पृष्ठ - 26

पूरक है, समाज भी अपने विकसित रूप को तब तक पूर्ण रूपेण प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि समाज में रहने वाले व्यक्ति सुप्तावस्था को छोड़ कर जागरूक अवस्था को प्राप्त नहीं होते एवं अपना पूर्ण सहयोग समाज को नहीं देते। इस प्रकार व्यक्ति समाज में निहित है और समाज व्यक्ति में " जब हम व्यक्ति तथा समाज की विवेचना करते हैं तो हम दो भिन्न वस्तुओं पर विचार नहीं करते, बल्कि एक वस्तु पर दो विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करते हैं। " (When we refer to the individual and the group we are not considering two distinctive phenomena but the same phenomena from different angles)[1]

व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्धों को समझने के लिए निम्न दो सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि ये दोनों सिद्धान्त इन सम्बन्धों को सर्वांङ्गीण रूप से व्यक्त करने में सक्षम नहीं हैं, ये सिद्धान्त दोनों के सम्बन्धों में एकांगी दृष्टिकोण को व्यक्त करते हैं :-

1. सामाजिक संविदा सिद्धान्त (The Social Contract Theory)
2. सामाजिक सावयवी सिद्धान्त (The Organic Theory)

सामाजिक संविदा सिद्धान्त - " लोगों ने समाज को एक ऐसा संगठन माना है जिसे मनुष्यों ने अपने कुछ लक्ष्यों एवं स्वार्थों की पूर्ति हेतु जानबूझ कर निर्मित किया है। इस प्रकार के विचार रखनेवाले लोगों में हाब्स, लॉक और रूसो का नाम उल्लेखनीय है। इन लोगों ने आर्थिक और राजनैतिक दृष्टिकोण को लेकर इस बात को व्यक्त किया है कि लोगों ने अपनी रक्षा और व्यवस्था करने के लिए राज्य का निर्माण किया। कुछ भी हो हम यह मानकर चलते हैं कि इस सिद्धान्त के अनुसार समाज मनुष्यों का एक कृत्रिम आविष्कार है, लेकिन हम इस सिद्धान्त की इस बात से सहमत नहीं हो सकते कि मनुष्य समाज के

1- चार्ल्स कूले - ह्यूमन नेचर एण्ड सोशल आर्डर ; पृष्ठ - 1

बाहर का अथवा उससे पृथक मानव प्राणी है। वास्तव में व्यक्ति और समाज को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। मानव विकास के इतिहास में व्यक्ति और समाज दोनों का समान रूपसे प्राधान्य है। "1

अत: सामाजिक संविदा सिद्धान्त को पढ़ने से ज्ञात होता है कि इसके मतावलम्बियों की धारणा है कि समाज की रचना व्यक्ति ने ही की। व्यक्ति यदि अपनी समस्त इच्छाओं की संतुष्टि के लिए, अपनी रक्षा के लिए अपनी उच्छृंखलता को रोकने के लिए तथा पर्याप्त मात्रा में स्वतन्त्रता को बनाए रखने के लिए समाज की रचना की। ऐसा न होने से मनुष्य, जो कि आज इतनी उन्नतावस्था में है, सम्भवत: अंधकार के गर्त्त में डूबा होता। अत: हम देखते हैं कि समाज-निर्माण में व्यक्ति का महत्त्वपूर्ण योग है। दोनों की तुलना में व्यक्ति को प्राधान्य देना अनुचित न होगा।

सामाजिक सावयवी सिद्धान्त - (The Organic Theory)

इस मत को मानने वाले समाजशास्त्री व्यक्ति एवं समाज दोनों में समाज को अधिक प्राधान्य देते हैं। वे इस मत में विश्वास नहीं करते कि व्यक्ति ने ही समाज की रचना की है। मनुष्य के शरीर में जिस प्रकार आँख, नाक, कान, हाथ, पैर आदि भिन्न-भिन्न अंग हैं एवं इन अंगों के अभाव में मनुष्य एक "मांस का लोदा" के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, ठीक इसी प्रकार समाज एक विशाल-काय व्यक्ति है एवं समाज में निवसित सभी सदस्य उस विशाल व्यक्ति के पृथक-पृथक अंग हैं। इस प्रकार व्यक्ति समाज का मात्र एक अंग है।

यह सामाजिक संस्थाओं को शारीरिक अवयवों व व्यवस्थाओं के सदृश मानता है। कोमटे, जो समाजशास्त्र के पिता कहलाते हैं, वे भी इस सावयवी सिद्धान्त को मानते हैं।"2

1- द्वारिका प्रसाद गोयल - समाजशास्त्र के मूल तत्व ; प्र० सं०, सन् 1968 ई० ; पृ० - 125

2- वही, पृष्ठ - 125,126

- " हिटलर तथा मुसोलिनी का कथन था कि व्यक्ति की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, वह तो समाज का एक अंग मात्र है। अतः व्यक्ति को समाज के लिए आहुति देना आवश्यक है।"[1]

" लिलिन फेल्ड (Lilien Feld) के कथनानुसार समाज व्यक्तियों द्वारा निर्मित जटिलतम सावयव है। इसमें व्यक्ति और समाज का वही अन्तर है जो शरीर और जीवन कोष्ठ का है।"[2]

वस्तुतः समाज और व्यक्ति एक दूसरे को पृथक-पृथक करना असम्भव है। दोनों एक दूसरे में निहित हैं। " वास्तव में समाज का हित व्यक्ति का हित है तथा व्यक्ति का हित समाज का हित है। यह ठीक उसी प्रकार से है जैसे जल में कमल, कमल में जल है। व्यक्ति के उत्थान से समाज का उत्थान तथा पतन से समाज का पतन होता है। "[3]

व्यक्ति तथा समाज का अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। यह दोनों साथ-साथ ही रहते हैं। एक के अभाव में दूसरा पंगु सदृश है।

बालक संसार में जन्म लेते ही सब कुछ सीख नहीं जाता, वरन् वह अपने पारिपार्श्विक वातावरण तथा परिस्थितियों से ज्ञान लाभ करता है और उससे प्रभावित होता है। समाज में रहकर धीरे-धीरे उसके व्यक्तित्व में वृद्धि होती है। समाज के सदस्यों से कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसका ज्ञान उसे उत्तरोत्तर होता रहता है। प्रारम्भ में बालक जड़ और चेतन की पृथकता का अनुभव

1- के॰डी॰ अग्रवाल - माध्यमिक समाजशास्त्र ; सन् 1957 ई0 ; पृ0 - 108

2- वही, पृष्ठ - 108

3- वही, पृष्ठ - 108

करने में असमर्थ होता है। जो व्यवहार वह अपने माता, पिता, भाई बहनों तथा मित्र-मंडली से प्राप्त करता है वही व्यवहार वह अपने खिलौने, गुड़िया आदि के प्रति प्रदर्शित करता है, किन्तु समाज में रहकर वह धीरे-धीरे अनुभव करता है कि माता, पिता या अन्य जीवित प्राणी जैसा व्यवहार उसे जड़ पदार्थ से प्राप्त नहीं होता है। इसप्रकार वह उसे पुचकारना छोड़ देता है। वह अपने सम्बन्धियों का अनुकरण ही नहीं करता, अपितु अपने आत्मभाव को भी प्रदर्शित करता है।

लोकाचार और जनरीतियों आदि का भी व्यक्ति और समाज के संबंधों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। " सामाजिक विरासत हमारे व्यक्तित्व का निर्माण और विकास करती है। इसी तरह समाज व्यक्ति की आन्तरिक शक्तियों को युक्त कर सीमित करता है, निश्चित अवसरों पर वांछित प्रेरणाएँ देता है और हमारे ऊपर निश्चित प्रतिबंध लगाता है। सूक्ष्म एवं उद्देश्यरूप से हमारे विश्वासों, मनोवृत्तियों, नीतियों एवं आदर्शों का निर्माण समाज व सामाजिक विरासत द्वारा ही होता है। अतः समाज के बिना व्यक्तित्व का अभिर्भाव नहीं हो सकता है।"[1]

अन्ततोगोत्वा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि व्यक्ति एवं समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

व्यक्ति तथा समूह की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के चित्रण में समाज के स्वरूपता की आलोचना के संदर्भ में मेकाइवर और पेज का दिया हुआ व्यक्ति और उसके सामुदायिक सम्पर्क से संबंधित एक चार्ट (पृष्ठ 17 पर) प्रस्तुत है।

समाज का सदैव विकास होता रहता है। यह विकास की प्रक्रिया उसके सदस्यों की क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं पर निर्भर है। व्यक्ति समाज की लघुतम इकाई है। वह स्वयं भी जैविकगुणों से परिचालित होने के कारण सदैव विकासशील है। जन्म से आरम्भ कर मरण-काल पर्यन्त उसमें निरन्तर विकास

1- द्वारिकादास गोयल - समाजशास्त्र के मूल तत्व ; पृ० सं०, सन् 1968ई० ;पृ०-129

प्रो० मैकाइवर और पेज के आधार पर :-

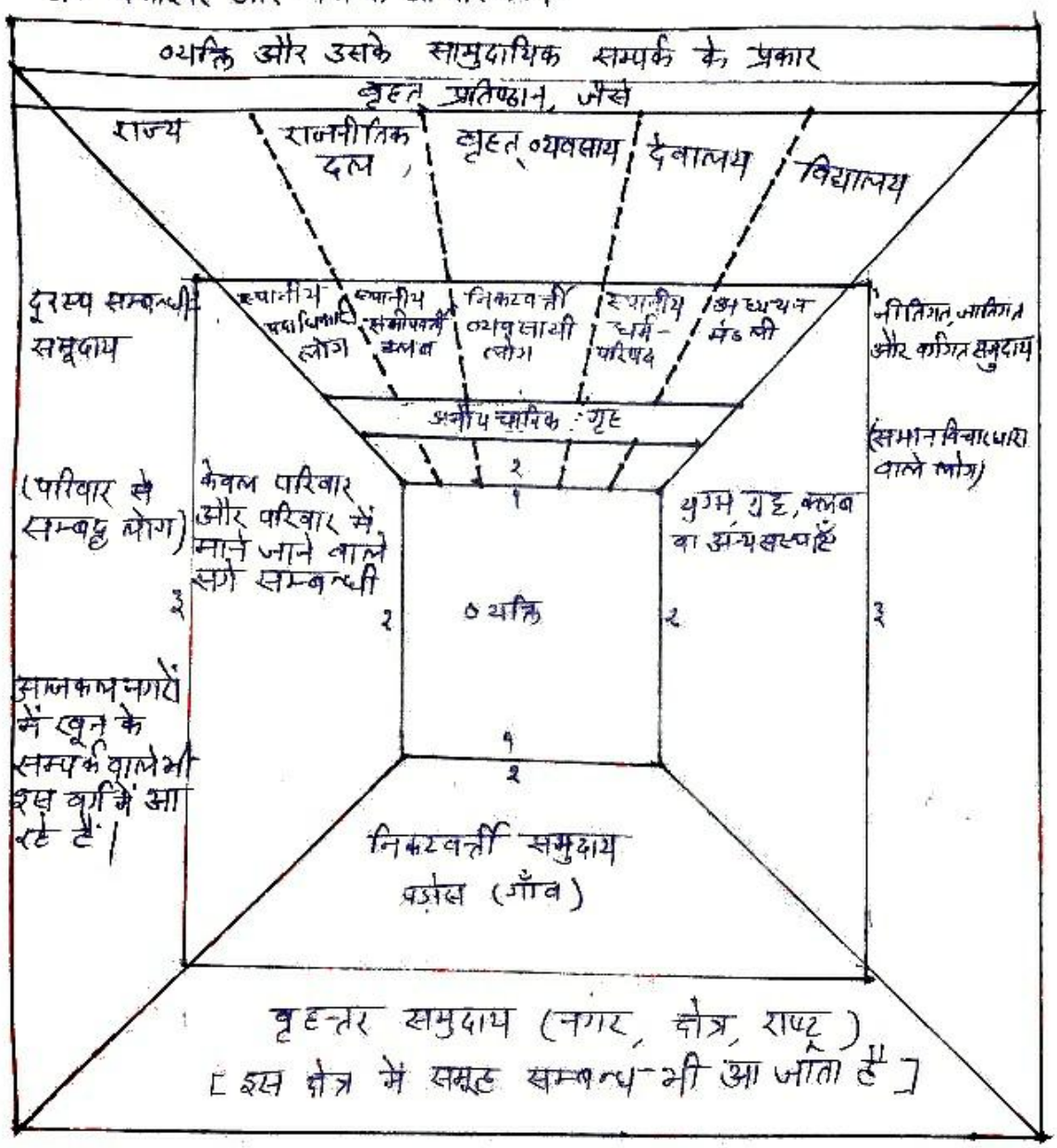

1- व्यक्ति — समुदायगत सम्पर्क के केन्द्र के रूप में
2- निकटतर सम्बन्ध-क्षेत्र
3- दूरतर सम्बन्ध क्षेत्र

तथा परिवर्तन होता ही रहता है। यह विकास वातावरण के प्रति प्रतिक्रिया के फलस्वरूप होता है और स्वयं भी वातावरण को प्रभावित तथा विकसित करने में सहायता पहुँचाता है। प्रत्येक परिवार का परिवेश भिन्न होता है और उसका प्रभाव शिशु के जीवनादर्श, रुचि-निर्माण पर पड़ता है। व्यक्ति की क्रिया और प्रतिक्रिया का आरम्भ सामान्यतः परिवार से ही होता है। शैशव में प्रायः सामान्य स्थिति के कारण शिशु की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं पर कम ध्यान दिया जाता है। उनका महत्व कम नहीं होता, किन्तु शिशु सुलभ ऋजुता तथा सरलता के कारण उसका समष्टिगत महत्व नहीं हुआ करता। किन्तु यौवनावस्था में व्यक्तित्व सम्बन्धी अनेक उलझनें पैदा हो जाती हैं। संवेगशील मन बहुधा अपने गुरुजनों से भिन्न आदर्श तथा भिन्न जीवन-प्रक्रिया को अपनाने के लिए उन्मुख हो जाता है। इसी अवस्था में नारी और नर एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं। इनके फलःस्वरूप व्यक्ति में अनेक प्रकार की क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ होती हैं। सामाजिक वातावरण विकसनशील व्यक्तित्व को निरन्तर प्रभावित करता रहता है और स्वयं भी प्रभावित होता रहता है। स्वभावतः व्यक्ति को सामाजिक वातावरण से समायोजन (Adjustment) स्थापित करना पड़ता है। इसी प्रक्रिया में कभी-कभी विरोध या विद्रोह की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है। साधारण व्यक्ति अपनी प्रतिक्रियाओं को समाज के अनुकूल बना लेता है और प्रायः वैसी ही क्रियाओं का सम्पादन करता है जिससे वातावरण के साथ अल्पतम विरोध हो। असाधारण व्यक्ति सदैव ऐसा नहीं कर पाता। उसकी क्रियाएँ तथा प्रतिक्रियाएँ बहुधा भिन्न, सशक्त और अधिक प्रभावोत्पादक हुआ करती हैं। समाज का एक निश्चितप्राय जीवनादर्श होता है, जिसका पालन पारस्परिक रूप से हुआ करता है, किन्तु वैयक्तिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं की भिन्नता के कारण बहुधा परम्परा में विघटन हो जाता है और जीवनादर्श के स्वरूप में परिवर्तन की आवश्यकता हो जाती है। व्यक्ति पारम्परिक प्रतिमानों का अनुगमन करता है और स्वकीय उदाहरण के द्वारा उनका निर्माण भी करता चलता है। अतएव मानवीय जीवनादर्शों तथा सांस्कृतिक प्रतिमानों

के विकास के मूल में व्यक्ति की इन्हीं क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का हाथ है। स्व-केन्द्रित अथवा व्यक्तिवादी लोगों के जीवन में समाज से अधिक संघर्ष होता है। इसमें व्यक्ति और समाज दोनों की शक्ति का यथेष्ट अपव्यय होता है। यह देखा जाता है कि अधिक सफल और चतुर व्यक्ति समाज से यथासम्भव अधिक समायोजन स्थापित कर लेता है और विरोध तथा विद्रोह को ऐसा उदात्त बना लेता है कि वह अपने सहयोगियों से सामान्य सहानुभूति, सहयोग एवं प्रोत्साहन पाने लगता है। व्यक्ति और समाज के जीवन के सम्बन्धों की ऋजुता और जटिलता पर तथा अनुकूलता और प्रतिकूलता पर ही क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं की अवस्थिति निर्भर है। वैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्य किसी भी प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन के पश्चात् व्यक्ति और समाज की क्रिया-प्रतिक्रिया में नए सिरे से संक्षोभ उत्पन्न होता है। व्यक्ति और समूह के इन पारस्परिक संबंधों में ही समाज के यथार्थ स्वरूप का दर्शन होता है।

काव्य और सामाजिक जीवन

" काव्य मनुष्य के मस्तिष्क की महत्वपूर्ण उपज है। साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी है।"[1] काव्य मानव-जीवन के वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी स्वरूपों की अभिव्यक्ति का सुन्दर माध्यम है। काव्य के अन्तर्गत सामाजिक व्यक्तियों की हृदयगत भावनाओं, संवेदनाओं तथा अनुभूतियों का सूक्ष्म चित्रण होता है। कविता मुख्यतः जीवन की व्याख्या है। कविता कवि के हृदय की सहज अभिव्यक्ति है। कवि की भावधारा उसकी कल्पना पर निर्भर है। कवि अपनी कल्पना के क्षेत्र में सम्पूर्ण रूप से मुक्त होता है। वह अपनी कल्पना के पंखों से अनायास ही सर्वत्र

1- प्रेमचन्द - साहित्य का उद्देश्य ; सन् 1954 ई० ; पृ० - 20

चले जाने में रवि की किरणों को भी मात कर देता है। वह अपनी कविता में नदी, नाले, वन, पर्वत, निर्झर और पहाड़ इत्यादि का वर्णन करता है। कभी तो वह बादलों के साथ खेलने लगता है तो कभी नदी की छोटी-छोटी तरंगों के साथ गाता है, वह अपनी कल्पना में आकाश-भ्रमण भी कर आता है, घास में बिखरे हुए ओसकणों को संजोकर हृदय में रख लेता है। इतना सब होते हुए भी कवि समाज की ही एक इकाई है एवं वह अपनी कृति में समाज तथा समाज में रहने वाले मानवों की उपेक्षा या अवहेलना नहीं कर सकता है। साहित्य समाज का दर्पण है। कवि जिस प्रकार के समाज में निवास करता है उस समाज की समस्त मान्यताओं, सांस्कृतिक प्रतिमानों तथा जीवन-मूल्यों का प्रतिफलन उसके काव्य में होता है, क्योंकि कवि के ऊपर तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक सभी परिस्थितियों का अमिट छाप पड़ जाता है।

अतः कवि अपनी कृति में जो कुछ कहता है वह समाज की मूल्यवान निधि-स्वरूप होती है। कवि समाज शास्त्री की भाँति समाज का अध्ययन करते हुए भी जो कुछ अपनी कृति में कहता है वह केवल कोरी कल्पना नहीं होती, अपितु मानव-जीवन से सम्पृक्त यथार्थ घटनाएँ होती हैं।[1] काव्य को जीवन से असम्बद्ध रखना असम्भव है। काव्यकार जीवन की समस्याओं से पलायन नहीं कर सकता। व्यक्ति एवं समाज दोनों का ही प्रतिबिम्ब काव्य में परिस्फुट होता है। वास्तव में साहित्य की आत्मा आदर्श है और उसकी देह यथार्थ का चित्रण। "साहित्य का भव्य भवन केवल कल्पना के आधार पर नहीं खड़ा हो सकता। सत्य और कल्पना के संयोग में ही साहित्य का यथार्थ रूप बनता है।"[2] कवि काव्य में न केवल वर्तमान परिस्थितियों का सजीव उल्लेख करता है, वरण उसमें जीवनादर्श की ओर संकेत भी करता है। वह अपने युग का सच्चा प्रतिनिधि होता है।

1- प्रेमचन्द - साहित्य का उद्देश्य ; पृष्ठ संख्या - 199

2- हिन्दी प्रचारक - { वर्ष- 5, अंक - 5-6 } पृष्ठ - 3

कवि अपने काव्य के पात्रों के माध्यम से तत्कालीन समाज का सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करने में समर्थ होता है। प्रेमचन्द के मतानुसार साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है।[1] कवि या साहित्यिक अपने काव्य में सामाजिक जीवन का उचित विवरण उपस्थित करके ही शान्त नहीं हो जाता, वह जीवन की आलोचना भी करता है। जीवन में सब कुछ शुभ एवं सुन्दर ही नहीं है। समाज में अनेक विषमताएँ और कुपताएँ भी लक्षित होती हैं। कवि जीवन की इन कुपताओं की ओर संकेत करके एक चिकित्सक की भाँति उसके निदान का भी उपाय बताते हुए दिशा निर्देश करता है। वह जीवन का सच्चा समालोचक होता है। साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा होता है। कवि जहाँ अशुभ एवं कुत्सित देखता है वहाँ उसे असन्तोष होता है। इन अशुभ एवं कुप्रथाओं पर वह काव्य के माध्यम से चोट पहुँचाता है एवं उसे दूर करने का प्रयत्न करते हुए काव्य में सत्यं शिवं, सुन्दरम् की प्रतिष्ठा करता है। कवि जीवन की समस्याओं एवं संघर्षों में अविचल रहने वाले चरित्रों की सृष्टि करके समाज के लोगों के हृदय में जीवन के प्रति आस्था एवं विश्वास उत्पन्न करने में समर्थ होता है। इतिहास एवं साहित्य दोनों में तत्कालीन समाज का चित्रण होता है, परन्तु साहित्य में इतिहास की तुलना में अधिक सत्य दर्शित होता है। इतिहास में भले ही पात्रों के नाम और सन-संवत् ठीक होते हों, परन्तु जिन तथ्यों का उद्घाटन होताहै वह असत्य भी हो सकता है, परन्तु साहित्य में पात्रों के नाम और सन-संवत् के अतिरिक्त सब कुछ सत्य होता है।

काव्य में चित्रित समाज के अध्ययन का प्रयोजन

इतिहास के अध्ययन से हमें जो लाभ होता है उससे अधिक लाभ हमें काव्य में चित्रित समाज के अध्ययन से होता है। इतिहास में केवल घटनाओं का

1- प्रेमचन्द - साहित्य का उद्देश्य ; पृष्ठ - 27

परिणाम हमें देखने को मिलता है जबकि काव्य में जीवन का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। किसी युग का समाज उस युग में रहने वाले सभी जातियों, धर्मों और समाज के स्त्री पुरुषों की सम्मिलित चेष्टा से बनता है। किसी काल खण्ड की सामाजिक चेतना क्या थी, उस समय का युगबोध कैसा था, किस कार्य के परिणाम शुभ तथा अशुभ हुए इन सभी तथ्यों का ज्ञान हमें काव्य में चित्रित समाज के अध्ययन से ही होता है। साथ ही हमें अशुभ से बचने के लिए संकेत मिल जाते हैं। काव्य में चित्रित समाज के अध्ययन से हमें पता चलता है कि हम अतीत में क्या थे, कैसे थे अथवा उस समय समाज में क्या अच्छाइयां और बुराइयां थीं। तुलनात्मक अध्ययन से यह भी ज्ञात हो जाता है कि वर्तमान में हम कैसी अवस्था में पहुँच गये हैं। हमारा वर्तमान किन प्रयासों का परिणाम है तथा हमें भविष्य के निर्धारण के लिए क्या करना चाहिए इसका भी हमें प्रकाश मिल जाता है। काव्य में चित्रित समाज के अध्ययन से हम विभिन्न युगों के सर्जित साहित्य में समाज की समस्याओं, नैतिक मान्यताओं एवं संस्कृति के विविध रूपों को जानने में समर्थ होते हैं। मैथिलीशरणगुप्तजी का समय एक निश्चित कालखण्ड में विभाजित है, अतएव उन के काव्यमें चित्रित समाज के अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक क्षेत्र का पूर्णरूपेण ज्ञान हो जाता है। उस समय पारिवारिक जीवन कैसा था नारी एवं पुरुष की समाज में क्या स्थिति थी, खान-पान, वेश-भूषा, आभूषण, शृंगार के विविध प्रसाधन, मनोरंजन, व्यवसाय, संस्कार, कला, आचार-विचार, धार्मिक एवं दार्शनिक विचार क्या थे, हमारी क्या-क्या आशाएँ तथा आकाँक्षाएँ थीं और सामूहिक तथा वैयक्तिक समुन्नयन के लिए हम क्या-क्या प्रयास कर रहे थे, इन सबका आभास हमें तत्कालीन काव्य में चित्रित समाज के अध्ययन से प्राप्त हो जाता है।

- ख -

"गुप्तजी का जीवन-वृत्त"

कवि अपने युग का प्रतिनिधि होता है। वह जिस समाज एवं जिस युग में रहता है उसके प्रभाव से बच नहीं सकता। साधारण या असाधारण सभी जन अपने युग के प्रभावों से प्रभावित होते हैं। साधारण विचार बुद्धिवाले लोग समाज के विचारों से केवल प्रभावित होते हैं, परन्तु असाधारण लोग समाज से प्रभावित होने के साथ-साथ समाज को भी अपने विचारों से प्रभावित करते हैं।

गुप्तजी ने सन् 1904 ई० से ही साहित्य की सेवा की है। अत: उनका रचना-काल अत्यन्त दीर्घ समय तक व्याप्त है। इस कालावधि की समाज-चेतना का उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर गहरा प्रभाव पड़ा है। अतएव उनके रचनाकाल को समझने के लिए उनके जीवन पर विहंगम दृष्टिपात करना आवश्यक प्रतीत होता है।

"साहित्य वाचस्पति श्री मैथिलीशरण गुप्तजी का प्रादुर्भाव श्रावणशुक्ला, हरियाली तीज, चन्द्रवार संवत् 1943 (तदनुसार सन् 1866) में झाँसी जिले के चिरगाँव निवासी एक सम्पन्न वैश्य, परिवार के अन्तर्गत हुआ था। जन्म पत्री में आपका नाम कनकने मिथिलाधिप नंदिनीशरण दिया गया था। यह नाम आपके परिवार के सखि-भाव की भक्ति का परिचायक था, क्योंकि आप के पिता सेठ रामचरण सखी भाव के उपासक थे और सीताजी उनकी इष्ट देवता थीं। इतने बड़े नाम का घरेलू संक्षिप्त रूप मिथिलाशरण हुआ और बाद में मुख सुख के कारण यही मैथिलीशरण हो गया।"[1]

1- ऋषि जैमिनी कौशिक बरुआ (सम्पादक)- राष्ट्रकवि मैथिलीशरणगुप्त ; अभिनन्दन ग्रन्थ ; सन् 1959 ई० ; पृष्ठ - 138

गुप्तजी के पिता एक कुशल महाजन होते हुए भी भगवद् भक्ति में अटूट विश्वास रखते थे। रामचरितमानस, विनय पत्रिका तथा आध्यात्म रामायण का पाठ प्रति सप्ताह किया करते थे। इनको साहित्य एवं संगीत दोनों में समान रूचि थी। गुप्तजी ने स्वयं अपने पिता स्वर्गीय रामचरणजी के सम्बन्ध में लिखा था - "वे मध्यविन्त गृहस्थ थे, किन्तु उनकी प्रकृति उदार थी। उनका अधिकांश समय भजन-पूजन और पाठ में ही व्यतीत होता था। दस-बारह गाँवों की जमीदारी थी। घर में चाँदी सोना भी यथेष्ट था। जब तक मेरे छोटे काका जी छोटे थे तब तक पिताजी घर का कुछ काम-काज करते भी थे। ..... लेन देन का काम ही असल में पिताजी का काम कहा जा सकता है। मकान और दूकान भी बहुत से यहाँ और झाँसी में थे। छोटे काकाजी जब काम करने योग्य हुए तब पिताजी ने सब काम छोड़ दिया। वे उन्हें सम्मति दे दिया करते थे। वह सम्मति अनुमोदन के रूपमें ही हुआ करती थी। वे स्वजनों की रूचि का ही विशेष ध्यान रखते थे।"[1]

"कनकलता" के उपनाम से यह कविताऐं भी लिखा करते थे। भक्ति एवं कविता में प्रेम होने के कारण आपके घर में निरन्तर पण्डितों, कवियों और भक्त लोगों का आना जाना लगा रहता था। वातावरण का प्रभाव मनुष्य के जीवन में अवश्यमेव पड़ता है। गुप्तजी पर अपने घर के वातावरण का प्रभाव पड़ा। पवित्र एवं पुनीत वातावरण में उनके जीवन का आरम्भिक काल बीता। गुप्तजी के चार भाई और थे। सबके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं:- श्रीमहाराम-दास, श्री रामकिशोर, श्री मैथिलीशरण, श्री सियारामशरण और श्री चारू शीलाशरण। श्री मैथिलीशरण एवं श्री सियारामशरण यह दोनों भाई साहित्य प्रेम में निमग्न हो गये एवं अन्य सभी भाई आजीवन वाणिज्य-सेवा करते रहे।

1- "अपने विषय में - कवि लिखित ; साहित्यकार ; मई 1955 ; पृष्ठ संख्या - 48 - 49

गुप्तजी का बचपन बड़े ही शान शौकत में बीता। "महाजनी सभ्यता में मुण्डन संस्कार के अलावा कर्ण-भेद बालकों में भी होता है। कनकने मैथिलीशरण का भी कर्णभेद हुआ और कानों के आभूषण पहनाए जाने लगे - उस समय आप मोतियों के झुमके जिनका बोझ संभालने के लिए मोतियों की ही दुहरी सांकल कानों पर चढ़ी रहती थी, पहना करते थे। पैरों में चांदी के कड़े, तोड़े, हाथों में सोने के कड़े, पौंहचियां और गले में गोप, गुंज एवं कंठ आदि भी समय-समय पर पहना करते थे। सिरों पर मण्डली भी बंधवाते थे। अंगरखा पहनते थे, जिसके घेर मोहारों और गोटे, पट्टे और पीठ तथा बाहों पर सुनहले पान पत्ते टके होते थे। अंगरखों के साथ सुथने भी होते थे, परन्तु वे प्रायः कोरे ही रहते थे।"[1]

गुप्तजी की आरम्भिक शिक्षा चिरगाँव की प्रायमरी पाठशाला में हुई थी। बचपन में आप बड़े खिलाड़ी थे। "उस समय आपको चकरी फिराने और पतंग उड़ाने का बड़ा शौक था ..... जब आप चकरी फिराते तो लड़कों और दर्शकों का समूह आपको घेर लेता था। .... देखने वालों में से कोई कहता था कि ग्वालियर में जो चकरी का मेला होता है उसमें मैथिलीशरण आवें तो जरूर इनाम पावें।"[2] पतंग उड़ाने, गेंद खेलने, पेंच लड़ाने, कबूतर पालने का आप को बहुत शौक था। खिलाड़ी मनोवृत्ति के होने के कारण आप बहुत अधिक पढ़ नहीं सके। पाठशाला की शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् आप झाँसी के मेकडानल हाईस्कूल में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से गये, किन्तु खिलाड़ी मनोवृत्ति ने आपका मन पढ़ने में लगने नहीं दिया एवं आप पुनः चिरगाँव लौट आये।

घर के भक्तिमय एवं काव्यमय वातावरण का पूरा प्रभाव गुप्तजी पर

1- ऋषि जैमिनी कौशिक बरुआ (सम्पादक) - राष्ट्रकवि मैथिलीशरणगुप्त; अभिनन्दन ग्रंथ ; सन् 1959 ई० ; पृष्ठ संख्या - 145

2- वही, पृष्ठ - 146

पड़ा। गुप्तजी के पिताजी स्वयं भगवद् भक्त थे। अतः रात रहते ही उठकर प्रातः स्मरण करते थे, तत्पश्चात् अपने पुत्रों को जगाकर नाम महिमा याद कराते थे। उनके पिता स्वयं अच्छे कवि थे। इन्होंने रहस्य-रामायण लिखना आरम्भ किया था, पर तीन खण्ड ही समाप्त कर पाये। बाल्यकाल से ही कविता के प्रति आपकी रुचि हो गई।

एक बार रामचन्द्र की स्तुति में इन्होंने एक छप्पय लिखकर अपने पिताजी की पुस्तिका में रख दिया था। गुप्तजी के पिताजी उसे पढ़कर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने मैथिलीशरणजी को एक श्रेष्ठ कवि बनने का आशीर्वाद दिया। उसी दिन से इनकी बाल-प्रतिभा विकसित होती गई। अपनी कविताओं को संवारने के लिए इन्हें अपने धनिष्ठ मित्र मुंशी अजमेरीजी का सहयोग प्राप्त हो जाता था।

गुप्तजी प्रारम्भ में ब्रजभाषा में "रसिकेश" तथा "रसिकेन्द्र" नाम से कविता लिखा करते थे। सौभाग्यका आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी से झाँसी में ही इनका परिचय हो गया। उन दिनों द्विवेदी जी झाँसी में सीपरी बाजार में ही रहते थे। गुप्तजी उनके आग्रह पर ब्रजभाषा को सदैव के लिए त्यागकर खड़ी बोली में ही रचना करने लगे। इस पर महावीर प्रसाद द्विवेदीजी की अनन्य कृपा रही है। उन्हीं की कृपा से गुप्तजी की काव्य-कला इतनी प्रौढ़ तथा प्रांजल हो पाई। गुप्तजी "मधुप" उपनाम से अनुवाद-कार्य करते रहे। आरम्भ में 1904-1905 में गुप्तजी की रचनाएँ कलकत्ते के राम प्रेस से निकलने वाली "वैश्योपकारक" नामक जातीयपत्र में प्रकाशित होती रहीं। सन् 1906 से गुप्तजी की रचनाएँ "सरस्वती" नामक पत्रिका में प्रकाशित होने लगीं। गुप्तजी महावीर प्रसाद द्विवेदीजी को कविता-गुरु मानते थे। गुप्तजी पर द्विवेदीजी का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। उनके संशोधनों तथा सुझावों को गुप्तजी वेद-वाक्य मानकर प्रसन्न मन से स्वीकार कर लेते थे।

"गुप्तजी के तीन विवाह हुए। 9 वर्ष की आयु में किशोर मैथिली का विवाह संवत् 1952 में हुआ था, पर गौना 5 वर्ष के बाद संवत् 1957 में हुआ।"[1] उनका प्रथम विवाह दतिया से हुआ, किन्तु प्रथम पत्नी का सान्निध्य इनको बहुत ही कम मिला। 1903 में भाद्रपद मास में मैथिलीशरण की पत्नी का देहावसान हो गया। उन्होंने एक कन्या-रत्न को जन्म दिया था, पर वह भी जी न पाई, अपनी माँ के साथ ही चली गई। "पत्नी की मृत्यु के बाद सन् 1903 की दीपमालिका के दिन पिता श्री रामचरण सेठ साकेत धाम को सिधार गए, 1904 में ही माताजी का भी देहावसान हो गया।"[2]

"प्रथम पत्नी की मृत्यु के एक वर्ष पश्चात् उनका दूसरा विवाह सन् 1904 में हो गया।"[3] परन्तु वे भी सन्तान-सहित चल बसीं। परिवार की परम्परा को निर्विघ्न रूप से चलाने के लिए श्री दीप की आशा से एवं परिवार के आग्रह पर इन्होंने अपना तृतीय विवाह 31 वर्ष की अवस्था में किया। तृतीय विवाह इन्होंने माधोबाड़ा ग्राम जिला जालौन से किया। आपके बच्चे हुए पर वे बचे नहीं। अतः गुप्तजी सन्तान-सुख से वंचित ही रह गये।

साहित्यकार अपनी साहित्यिक रचनाओं के द्वारा ही देश और समाज की सेवा करता है। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने स्वतन्त्रता के संघर्ष में सक्रिय योग दिया है और बन्दीघर भी गए हैं। देश-भक्ति-मय उद्गार व्यक्त करने के कारण आपकी पुस्तकें भी जब्त हुई हैं। आप सन् 1941 ई० में भारत-रक्षा-विधान के अन्तर्गत बन्दी बनाये गये। आगरे के केन्द्रीय-कारागार में बड़े बड़े राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के सन्निध्य में सात मास तक रहने के कारण उनका जीवन वहाँ के देश-भक्ति-पूर्ण वातावरण से अनुप्राणित हो उठा।[4]

1- ऋषि जैमिनी कौशिक "बरुआ" (सम्पादक) राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ; अभिनन्दन ग्रन्थ ; सन् 1958 ई० ; पृष्ठ - 153
2- वही, पृष्ठ - 168
3- वही, पृष्ठ - 168
4- वही, सन् 1959 ; पृष्ठ - 83

कारागार में आकर गुप्तजी गाँधी-भक्त हो गये एवं अपना अधिक से अधिक समय चर्खा चलाने में व्यतीत करते थे। " 1941 में आगरे के केन्द्रीय कारगार में आपके साथ आचार्य नरेन्द्र देव, पं० कृष्णदत्तपालीवाल, डा० कैसकर, महेन्द्रजी आदि कई राजनीतिक कार्यकर्त्ता थे। वहीं पर महेन्द्र जी के प्रयत्न से श्रावण शुक्ला तीज के दिन आपकी जयन्ती मनाई गई, जिसमें आगरा-केन्द्रीय-कारागार में स्थित प्रान्त भर के नजरबन्द राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं की ओर से आपको एक अभिनंदन पत्र भी भेंट किया गया, जिसे आचार्य नरेन्द्र देव ने पढ़कर सुनाया था।"।

अनवरत काव्य-साधना में लगे रहने के कारण गुप्तजी की ख्याति अल्प-दिनों में ही समस्त भारत में फैल गई। 50 वर्ष की आयु होने पर सन् 1936 ई० में चिरगाँव में ही आपकी स्वर्ण जयन्ती अत्यन्त धूमधाम के साथ सात दिन तक मनाई गई। तदुनन्तर वाराणसी में आपकी स्वर्ण जयन्ती मनाई गई। इस समारोह में गाँधीजी भी उपस्थित थे। उन्होंने गुप्तजी के सम्मान में एक अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया था। सन् 1937 ई० में " साकेत " महाकाव्य पर " हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी प्राप्त हुआ। सन् 1946 ई० में हिन्दी साहित्य के करौंची अधिवेशन में गुप्तजी को " साहित्य वाचस्पति " की उपाधि से विभूषित किया गया। 61 वर्ष की अवस्था में वाराणसी में डा० अमरनाथ[147] की अध्यक्षता में आपकी हीरक जयन्ती मनाई गई। आगरा विश्वविद्यालय ने सन् 1948 ई० में आपको डी० लिट् की उपाधि से विभूषित किया। सन् 1952 ई० में आप भारत की राज्यसभा के सम्मानित सदस्य बनें। इस उपलक्ष्य में प्रयाग तथा बम्बई के साहित्यकारों ने आपका अभिनन्दन किया।

1- ऋषि जैमिनी कौशिक बरुवा (संपादक) - राष्ट्र कवि मैथिलीशरणगुप्त: अभिनन्दन ग्रन्थ ; सन् 1959 ई० ; पृष्ठ - - 83-84

गुप्त जी का व्यक्तित्व

आपके स्वभाव तथा वेश-भूषा की सरलता प्रभावित किए बिना नहीं रह सकती " सन् 1911 ई० में बुंदेलखण्डी वैश्यों की पगड़ी, छलकिया, अंगा, दुपट्टा और पायजामा- यही उनका परिधान था। माथे पर साम्प्रदायिक तिलक बड़ी-बड़ी विचक्षण आँखें, मूँछें, साँवलारंग, इकहरा शरीर। स्वभाव की नम्रता उस समय भी प्रभावित किए बिना नहीं रहती थी। बहुत दिनों तक यही उनकी वेशभूषा रही, अंगे के साथ प्रायः धोती भी पहन लिया करते। फिर अंगे का स्थान कुरते ने लिया, किन्तु दुपट्टा और पगड़ी ज्यों की त्यों रही। सन् 28 में जब से खादी ग्रहण की, तबसे पगड़ी कुछ और भारी होने लगी, तभी कुछ समय के लिए दाढ़ी रख ली थी। सन 41 की गिरफ्तारी के बाद उन्होंने पगड़ी का परित्याग कर दिया।"[1]

गुप्तजी के वाह्य दर्शन में ऐसा कुछ नहीं है, जो उन्हें असाधारण सिद्ध कर सके ...."उनके चौड़े ललाट पर क्रोध और दुश्चिन्ताओं की क्रूर लिखावट नहीं है, सीधी भृकुटियों में असहिष्णुता का कुंचन नहीं है, ऊँची नाक पर दम्भ का उतार-चढ़ाव नहीं है और ओठों में निष्ठुरता की वक्रता नहीं है। जो विशेषताएँ उन्हें सबसे अधिक भिन्न कर देती हैं, वे हैं उनकी बँधी दृष्टि और मुक्त हँसी।"[2]

गुप्तजी सहृदयता तथा मानवता के अनन्य भक्त थे। मिलन सारिता के लिए आपकी ख्याति थी। इनके घर में नेहरूजी, विनोबाजी और गांधीजी आदि

1- श्रीरायकृष्णदास - राष्ट्रकवि मैथिलिशरणगुप्त : अभिनन्दन ग्रन्थ ; सन् 1959 ई० ; पृष्ठ - 9

2- श्रीमती महादेवी वर्मा - रेखाएँ- राष्ट्रकवि मै०गुप्त: अभिनन्दन ग्रन्थ ; सन् 1959 ; पृ० - 91

बड़े-बड़े महानुभव आतिथ्य स्वीकार कर चुके थे। हृदय से अत्यन्त सरल किन्तु विचारों में गम्भीर होने के कारण वे लोगों को सहज ही प्रभावित कर लिया करते थे।

गुप्तजी स्वभाव से अत्यन्त उदार तथा धार्मिक मनोवृत्ति के थे। वे दशरथ-पुत्र राम के अनन्य उपासक थे, परन्तु उदार एवं भावुक स्वभाव के होने के कारण ही आप जाति,समाज, देश एवं सम्पूर्ण विश्व के प्रति उदार दिखाई देते हैं, और इसीकारण वर्तमान समस्याओं को दूर करने के लिए मानवता के अनन्य उपासक बन गए।

आप गाँधीजी के विचारों से प्रभावित थे। अतएव अहिंसा में विश्वास रखते थे। आप अत्यन्त न्यायप्रिय थे। गुप्तजी " न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है " विचार के समर्थक थे। गांधीजी के विचारों से सहमत होने के कारण आप सभी धर्मों एवं सभी सम्प्रदायों के प्रति आदर भाव रखते थे।

कविता लिखना गुप्तजी के दैनिक जीवन के कर्मों में अंग स्वरूप था। पहले ये स्लेट पर पेंसिल से कविताएँ लिखकर अपने मित्र सुकवि एवं सुगायक अजमेरी जी को सुनाते थे एवं उनसे वादविवाद के पश्चात् संशोधन करके कापी पर लिखते थे। इनके व्यक्तित्व में तीन विशेषताएँ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं - रामभक्ति, साहित्य प्रेम एवं राष्ट्रीयता। भारत के अतीत पर इन्हें गर्व है। आप युगों के साथ चलने वाले कलाकार हैं। पुरातन का सर्वथा त्याग और नवीनता का अन्ध समर्थन न करके आपने दोनों विचारों का सफल सामंजस्य उपस्थित किया है। आपने युग की समस्यायों को और मान्यताओं को ज्यों का त्यों नहीं अपनाया। आपकी सारी प्रतिक्रियाओं में आपके सुदृढ़ तथा चिन्तनशील व्यक्तित्व की छाप स्पष्टत: परिलक्षित होती है।

गुप्तजी सदैव इस बात के लिए सावधान रहे कि उनके कारण कभी किसी को कोई कष्ट न होने पावे। एकान्तप्रिय होते हुए भी वे असामाजिक

नहीं थे। गुप्तजी विनोदी प्रकृति के होने के साथ ही साथ गम्भीर भी थे। श्रीमती महादेवी वर्मा का गुप्त जी के स्वभाव के बारे में कहना है कि -" वे स्वभाव से अत्यन्त प्रसन्न और विनोदी हैं, पर इस प्रसन्नता और विनोद की चंचल सतह के नीचे गहरी सहानुभूति और तटस्थ विवेक का स्थायी संगम है, जिस पर सबकी दृष्टि नहीं जाती। केवल विनोदी व्यक्ति की दृष्टि इतनी पैनी नहीं होती कि जीवन के वाह्य आवरणों को भेद कर तथ्य तक पहुँच सके और कवि के लिए यह पैनापन अनिवार्य है।"[1]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि गुप्तजी का जीवन सरल एवं सामान्य था। वस्तुत: वे सादा जीवन उच्च विचार रखने वाले कवि थे। उनके व्यक्तित्व में जहाँ एक ओर द्रवणशीलता दृष्टिगोचर होती है वहीं दूसरी ओर विचारों की गम्भीरता भी द्रष्टव्य है। मैथिलीशरणजी के व्यक्तित्व में विश्लेषण के लिए " वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि, लोकोत्तराणि चेतांसि " वाली पंक्ति सम्भवत: सर्वोत्कृष्ट होगी।

1- महादेवी वर्मा - "रेखाएँ"- मैथिलीशरणगुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ ; सन् 1959 ई० ; पृष्ठ - 91

गुप्त जी का रचना काल

तीन पीढ़ियों की युग-चेतना को प्रभावित करने वाले कविवर मैथिलीशरणगुप्त जी का रचना काल लगभग सन् 1904 ई० से सन् 1964 ई० तक का है। इस प्रकार 60-65 वर्ष तक यह अविराम गति से साहित्य की सेवा में संलग्न रहे। इनकी प्रतिभा ने साहित्य-जगत की विभिन्न गतिविधियों का पर्यवेक्षण किया है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की छत्रछाया में अपनी काव्य-रचना को आरम्भ कर वह द्विवेदीयुग के प्रतिनिधि कवि बने और छायावादीयुग, प्रगतिवादीयुग तथा प्रयोगवादी युगों में निर्बाध गति से साहित्य की सेवा करते रहे। कवि अपने युग का प्रतिनिधित्व अपने काव्य के माध्यम से करता है। कवि अपने युगीन प्रभावों से अछूता नहीं रह सकता। युग की छाप उसकी कृति में अवश्य ही दिखाई पड़ती है। भिन्न-भिन्न समय में समाज में भिन्न-भिन्न समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। कोई भी सचेतन कवि अपने काव्य में तत्कालीन समस्याओं की अभिव्यक्ति किए बिना नहीं रह सकता। वह समाज की समस्याओं को पहले स्वयं देखता है फिर अपने काव्य के माध्यम से सभी लोगों तक पहुँचाता है। गुप्तजी की कृतियाँ भिन्न-भिन्न समय में लिखी गई हैं। भिन्न-भिन्न समय में लिखे जाने के कारण उनकी कृतियों में तत्कालीनसामाजिक परिस्थिति, धार्मिक परिस्थिति और राजनीतिक परिस्थिति का प्रभाव पड़ा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्तजी ने लगभग दीर्घ 60 वर्ष तक साहित्य सर्जन किया है। इसी बीच उन्होंने तत्कालीन समाज से विविध प्रेरणाएँ ग्रहण की हैं। आप नानाविध युग-चेतनाओं से प्रभावित होते रहें हैं। भावुक और कल्पनाशील होने के कारण इन्होंने समाज के नव-निर्माण का प्रयास किया है। इन्होंने अनेकानेक नवीन आदर्शों की कल्पना की तथा उन्हें काव्य निबद्ध कर युग को अनुप्राणित करने का प्रयास किया। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इसी कालावधि में इन्होंने समाज से यथेष्ट लिया और जो लिया उसका सहस्र गुण

अधिक काव्य के रूप में दान कर दिया।

अतएव आगे हम देखेंगे कि इस अवधि में ऐसे कौन-कौन सामाजिक आंदोलन हुए तथा कौन-कौन महत्वपूर्ण घटनाएँ घटी जिन्होंने कवि की प्रेरणाओं का संघटन किया तथा उसकी प्रतिक्रियाओं का स्वरूप-निर्धारण किया ।

गुप्तजी की रचनाओं का कालानुक्रम

मानवीय सम्बन्धों के प्रख्यात कवि गुप्तजी दीर्घ अवधि से हिन्दी-काव्य क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का प्रकाशन करते चले आए हैं। इन्होंने साहित्य-जगत की समस्त गतिविधियों का पर्यवेक्षण किया है। द्विवेदीयुग, छायावादीयुग, प्रगतिवादीयुग और प्रयोगवादीयुग तक की कालावधि में यह निर्बाधगति से काव्य की सृष्टि करते गए। इनकी रचनाओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है- मौलिक तथा अनूदित रचनाएं। गुप्तजी की लगभग 40 मूल रचनाएं एवं 9 अनूदित रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। मौलिक रचनाओं में इन्होंने प्रबन्धकाव्य, प्रबंधात्मक मुक्तक, मुक्तककाव्य और नाटक लिखा है।

रंग में भंग

गुप्तजी की कई कविताएँ "सरस्वती" पत्रिका में प्रकाशित हो चुकी थीं, किन्तु सर्वप्रथम मौलिक रचना "रंग में भंग" प्रबंधकाव्य के रूप में संवत् 1966 में प्रकाशित हुई। रंग में भंग प्रबंधकाव्य के रूप में कवि का प्रथम प्रयास था। आज से 50 वर्ष पहले ऐतिहासिक आधार पर इस काव्य की रचना करके कवि ने यह सिद्ध कर दिया था कि खड़ी बोली में भी सरस एवं कलापूर्ण काव्य-रचना हो सकती है। अब तक खड़ी बोली को केवल गद्य के लिए उपयुक्त माना जाता था। यह काव्योपयोगी नहीं समझी जाती थी।

रंग में भंग एक दुःखान्त खण्डकाव्य है। इसमें बूंदी एवं चित्तौड़ के नरेशों की विवाह-सम्बन्धी घटना को लेकर कवि ने मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। कथानक अत्यन्त रोचक एवं सुव्यवस्थित है। कवि ने इसमें बताया है कि अतिरिक्त मान तथा अपमान की भावना से कोई लाभ नहीं ; अपितु

वह मानव की विकास में बाधा डालता है। इस काव्य में गति-चित्र और मुद्रा-चित्रण आदि के कई उदाहरण हैं जो कि गुप्तजी के भावी कलाकार की सूचना देते हैं। भाषा विशुद्ध खड़ी बोली है।

इसकी भाषा साकेतोत्तर काव्य की कांतिमयी खड़ी बोली की ओर संकेत करती है। प्रबन्धरूप में सर्वप्रथम प्रयास होने के कारण गुप्तजी के साहित्य में इस काव्य का विशेष महत्व है।

जयद्रथ-वध

संo 1967 में गुप्तजी की द्वितीय महत्वपूर्ण रचना "जयद्रथ-वध" का प्रकाशन हुआ। यह एक खण्ड-काव्य है। प्रस्तुत काव्य की कथा का मुख्याधार महाभारत है। प्राचीन कथा को सरस पूर्ण शैली में लिखकर नव-जीवन एवं स्फूर्ति-प्रदान किया गया है। इसमें भारतवर्ष के अभिमन्यु की मार्मिक गाथा को बड़ेही कुशलता पूर्ण पद्धति से अभिव्यक्त किया गया है। साथ ही साथ अभिमन्यु का युद्ध, अर्जुन का क्रोध, उत्तरा का विलाप आदि ऐसे प्रसंग हैं जिन्हें पढ़कर रोमां-च हो जाता है। प्रस्तुत काव्य में कवि ने अत्यन्त कलात्मक पद्धति से बताया है कि पाप कर्मों का भीषण अन्त होता है। चित्रण-कला एवं प्रस्तुत विधान आरम्भ की कृतियों की तुलना में अच्छा है। भाषा ओजपूर्ण है।

पद्य-प्रबन्ध

"पद्य-प्रबन्ध" समय-समय पर लिखी गयी फुटकल कविताओं का संगृहीत रूप है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन संवत् 1969 में हुआ। यह काव्य मुक्तक काव्य के अन्तर्गत आता है। पद्य-प्रबन्ध में कुछ कविताएँ क्रोध, प्रेम एवं मृत्यु आदि विषयों पर लिखी गई हैं, कुछ प्रकृति-वर्णन पर आधारित हैं। इस संग्रह को भारत-भारती की श्रेणी में रक्खा जा सकता है, दोनों की मूलभावना एक ही है, केवल भारत-भारती का क्षेत्र अत्यन्त विशद एवं व्यापक है।

प्रस्तुत काव्य के छोटे-छोटे आख्यान "साकेत" जैसे कलापूर्ण प्रबन्ध काव्य के रचयिता गुप्तजी के भावी विकास की ओर संकेत करते हैं। इसके साथ ही इस संग्रह की कविताएँ गुप्तजी के राष्ट्रकवि होने का पूर्वाभास देने में पूर्ण रूपेण समर्थ हैं।

भारत-भारती

गुप्तजी की सर्वाधिक लोकप्रिय रचना भारतभारती प्रबंधकाव्य के रूप में संवत् 1969 में प्रकाशित हुई। अब तक इसके प्रायः बीस से अधिक संस्करण निकल चुके हैं। गुप्तजी ने इसमें हरिगीतिका छन्द का प्रयोग किया है। भारतीयों में राष्ट्रीय-चेतना की जागृति में इस पुस्तक का बहुत हाथ रहा है। जन-जागरण के भय से शंकित होकर तत्कालीन बिहार-सरकार ने इस पुस्तक पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।

प्रस्तुत काव्य में भारतीयों की वीरता, आदर्श, विद्या-बुद्धि, कला-कौशल, सभ्यता-संस्कृति आदि का गुण गान किया है। इसमें भारतीयों को उद्बोधित किया गया है। इस काव्य के समस्त उद्बोधन गीत अत्यन्त मार्मिक हैं।

यह ग्रन्थ मुसद्दसे हाली एवं मुसद्दसे कैफी से प्रभावित है। "हाली और कैफी के मुसद्दसों से मैंने लाभ उठाया।"[1] फिर भी इसमें पर्याप्त मौलिकता एवं नवीनता द्रष्टव्य है।

शकुन्तला

संवत् 1971 में गुप्तजी का तृतीय प्रबंध काव्य "शकुन्तला" का प्रकाशन हुआ। यह काव्य कविवर कालीदास की अमरकृति "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" का

1- मैथिलीशरणगुप्त - भारतभारती की प्रस्तावना-अठारहवाँसंस्करण; पृ- 3

अनुवाद सा प्रतीत होता है। "शकुन्तला" काव्य का प्रणयन "प्रीति" के लिए हुआ है।

तिलोत्तमा

यह एक पौराणिक नाटक है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन सं0 1972 वि0 हुआ। महाभारत (सुन्दोपसुन्दोपाख्यान) से कथा का सूत्र लेकर लेखक ने नाटक का विकास अपने ढंग से किया है। "तिलोत्तमा" तथा महाभारत के सुन्दोपसुन्दोपाख्यान का संदेश एक है, कथा वस्तु भी समान है, परन्तु दोनों की प्रतिपादन शैली भिन्न-भिन्न है।

प्रस्तुत नाटक का कथानक रोचक है एवं घटनाएँ भी अभिनेय है। पात्रों के चित्रण को यथासंभव विश्वसनीय बनाने का प्रयास किया गया है। विद्वानों का कहना है कि तिलोत्तमा में सभी शास्त्रीयगुणों के विद्यमान होने पर भी चरित्र-चित्रण जैसे महत्वपूर्ण तत्व का अभाव है। तिलोत्तमा "अनघ" से निम्नस्तर तथा चन्द्रहास से उच्चस्तर कोटि का नाटक है।

चन्द्रहास

"चन्द्रहास" का प्रकाशन सर्वप्रथम संवत् 1973 में हुआ। यह एक पौराणिक रूपक है। इसका विषय है- भाग्यवाद। नियति से मनुष्य बच नहीं सकता। मानव अपनी बुद्धि-चातुर्य से नियति की इच्छा के विपरीत कुछ भी करने में असमर्थ है। वही होता है जो नियति चाहती है। यह कृति तत्कालीन युग के हिन्दी नाटकों की सभी विशेषताओं एवं दोषों का प्रतिनिधित्व करने में पूर्ण समर्थ है।

पत्रावली

गुप्तजी द्वारा विरचित पत्रावली नामक मुक्तक काव्य संवत् 1973

में प्रकाशित हुआ। यह ऐतिहासिक आधार पर लिखित सात पत्रों का संग्रह है। इन विभिन्न पत्रों में असाधारण गुण से युक्त मानवों की अवनति पर उनके प्रियजनों तथा मित्रों ने दुःख प्रकट करते हुए उन्हें सत्कर्म के लिए प्रेरणा दी है। सर्वप्रथम पत्र पृथ्वीराज का राणा प्रताप के लिए है। द्वितीय पत्र में राणा प्रताप का उत्तर है। तृतीय पत्र में शिवाजी की ओर से औरंगजेब को लिखा गया है। चौथा पत्र औरंगजेब द्वारा अपने पुत्र को लिखा गया है। पाँचवा पत्र रानी सिसोदिनी की ओर से महाराजा जसवन्त सिंह को लिखा गया है। छठा पत्र महारानी अहल्याबाई का है जो राघोबा के प्रति है। सातवाँ पत्र राजकुमारी रूपवन्ती का लिखा हुआ है जो उसने महाराजा जयसिंह के लिए लिखा है। इन पत्रों में वीर राजपूतों, राजपूत रमणियों एवं देशभक्ति के भावों से ओत-प्रोत अन्यलोगों की मनोवृत्तियों का सुन्दर चित्रण हुआ है।

वैतालिक

"पत्रावली" के पश्चात् "वैतालिक" काव्य का प्रकाशन संवत् 1973 में ही हुआ। भारत-भारती की भाँति यह भी उद्बोधन काव्य है। सुषुप्त भारतीयों को पुनः जाग्रतावस्था में लाना ही इस काव्य का मुख्य उद्देश्य है। इसमें कथानक का अभाव है। बौद्धिक व्याख्यानों का प्राचुर्य है। वैतालिक की मूल विशेषता इसके प्रकृति चित्रण में निहित है। कवि की लेखनी से इतने अधिक परिमाण में प्रकृति का चित्रण यहीं सर्व प्रथम हुआ।

किसान

संवत् 1973 वि० में गुप्तजी का "किसान" शीर्षक प्रबन्धकाव्य प्रकाशित हुआ। इस काव्य में कवि ने तत्कालीन भारतीय कृषकों की दयनीय करुण स्थिति का अत्यन्त मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। प्रस्तुत काव्य का उद्देश्य निर्धन कृषकों के प्रति सहानुभूति जगाना है। दो एक छन्दों में तत्कालीन भारत-सरकार की प्रशंसा की गयी है।

अनघ

"अनघ" गीति नाट्य है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन संवत् 1982 में हुआ। यह सतरह खण्डों में विभाजित है। प्रत्येक खण्ड में एक नया दृश्य है। इन खण्डों को नाटक का दृश्य भी माना जा सकता है। इसकी कथा समसामयिक है। गाँधी नीति की साकार प्रतिमा "मधु" के आदर्श चरित्र की कल्पनाअनघ की विशेषता है।

पंचवटी

प्रसिद्ध खण्डकाव्य पंचवटी का सर्वप्रथम प्रकाशन संवत् 1982 में हुआ। इसका कथानक-रामसाहित्य का सुप्रसिद्ध आख्यान शूर्पणखा प्रसंग है। इसमें कतिपय मूल उद्भावनाएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। मधुर एवं तरल हास्य विनोद ने इसे सजीवता प्रदान की है। चरित्र-चित्रणों में परम्परा का अनुसरण किया गया है, फिर भी कवि के दृष्टिकोण पर आधुनिकता की छाप है। इस काव्य में नारी सुलभ हाव-भाव का चित्रण सुन्दर बन पड़ा है। इसके अतिरिक्त एक युवक एवं युवती के परस्पर अकस्मात् मिलने पर जो-जो मनोभाव युवा-हृदय में उठकर हृदय हृदय को आन्दोलित करते हैं तथा संयमी पुरुष किस चतुराई से काम लेता है इन सबका बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्र खींचा गया है। कवि ने अतृप्त वासना के कुपरिणाम को प्रस्तुत काव्य में अभिव्यक्त किया है।

गुप्तजी के काव्य के विकास पथ में "पंचवटी" एक मार्ग-स्तम्भ है। इसकी रचना से कवि के कृतित्व के प्रारम्भिक काल की समाप्ति एवं मध्यकाल का प्रारम्भ होता है। गुप्त-साहित्य में पंचवटी का विशेष स्थान है।

स्वदेश-संगीत

गुप्तजी की स्वदेश-प्रेम से परिपूर्ण प्रायः 65 कविताओं का एक संग्रह "स्वदेश संगीत" के नाम से संवत् 1969 में प्रकाशित हुआ। इन कविताओं में

कवि के सामयिक राजनीति एवं तत्कालीन आंदोलनों से भरे विचार देखने को मिलते हैं। इसका मूल उद्देश्य भारतवासियों को जागरण का संदेश देना है। अत: यह भारत-भारती की परम्परा का ही काव्य है। स्वदेश-संगीत के माध्यम से हम गुप्तजी के नवीन और प्राचीन के समन्वय की भावना, और आदर्श जीवन की कल्पना से परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

हिन्दू

यह पुस्तक सर्वप्रथम संवत् 1984 में प्रकाशित हुई थी। कवि की यह कृति भी भारत-भारती और वैतालिक की परम्परा में आती है। इसमें भारत के गौरवपूर्ण अतीत का गान गाया गया है। वर्तमान जीवन की कटुता और विषमता को बताकर कल्याणमय भविष्य की कामना की गई है। प्रस्तुत काव्य में कवि की उदारता एवं राष्ट्रीय भावना के दर्शन होते हैं।

शक्ति

"संघे शक्ति: कलौ युगे" सिद्धान्त का प्रतिपादक प्रस्तुत खण्डकाव्य का सर्वप्रथम प्रकाशन संवत् 1984 में हुआ। इसकी रचना देव और दानव के संग्राम की पौराणिक कथा के आधार पर की गई है। इसमें प्रारम्भ से अन्त तक रण-चर्चा होने के कारण वीर-रस की सृष्टि हुई है। संगठन में ही शक्ति रहती है इस उद्देश्य के निर्देशन में प्रस्तुत काव्य समर्थ रहा है। इसकी भाषा संस्कृत गर्भित है।

सैरन्ध्री

संवत् 1984 में "सैरन्ध्री" नामक प्रबंधकाव्य का प्रकाशन हुआ। पंचमवेद महाभारत से पाण्डवों की अज्ञातवास की कथा तथा कीचक-वध की घटना को प्रस्तुत काव्य का वर्ण्य विषय बनाया गया है। सैरन्ध्री की प्रतिपादन शैली

नवीन ढंग की है। "सैरन्ध्री" में गुप्तजी का विकसित काव्य-शिल्प द्रष्टव्य है। प्रस्तुत काव्य में कवि ने पाप-मनोवृत्तियों के परिणाम को स्पष्टरूप से बताया है एवं लोगों को उससे सचेत रहने की शिक्षा दी है।

वन-वैभव

इसी वर्ष कवि का तीसरा "काव्य" वन वैभव" प्रकाशित हुआ। इस प्रकार इसका प्रकाशन काल भी संवत 1984 ही है। प्रस्तुत काव्य के कथानक का मूलाधार महाभारत है। गुप्तजी ने इस काव्य के अन्तर्गत पाण्डवों की दयनीय स्थिति, दुर्योधन की विलासिता, चित्ररथ तथा दुर्योधन के युद्ध तथा युधिष्ठिर के मन में कौरवों के प्रति प्रेम एवं सद्भाव का वर्णन किया है। इसमें कवि के युद्ध सम्बन्धी विचार व्यक्त हुए हैं। प्रस्तुत काव्य में उन्होंने बताया है कि धर्म की रक्षा के लिए युद्ध करना उचित है, परन्तु मात्र राज्यविस्तार के लिए युद्ध उपयुक्त नहीं है।

वक-संहार

प्रस्तुत काव्य का वर्ण्य-विषय महाभारत की चिरप्रसिद्ध कथा है। इसका प्रकाशन संवत् 1984 में ही हुआ। कवि ने इसमें अपनी इच्छानुसार कुछ परिवर्तन एवं परिवर्धन भी किया है। "वक संहार" में कवि ने बड़ी ही कलात्मक पद्धति से माता के हृदय की भावना, पिता के हृदय की भावना, कुन्ती की उदारता, कर्त्तव्यभावना एवं राज्य-प्रणाली का आदर्शपूर्ण विचार व्यक्त किया है। इसमें प्रेम पर कर्त्तव्य की श्रेष्ठता को प्रदर्शित किया गया है।

विकट भट

"विकट भट" का प्रकाशन सं0 1985 वि0 में हुआ। प्रस्तुत काव्य में जोधपुर महाराज के एक सरदार देवीसिंह तथा उनके पुत्र सेवाई सिंह की कथा

वर्णित है। राजपूत अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए प्राण तक त्याग देते हैं इसका सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत कृति है। सम्पूर्ण काव्य वीर रस से ओत-प्रोत है।

गुरुकुल

इसी वर्ष सं० 1985 वि० में गुप्तजी का उत्कृष्ट प्रबन्धकाव्य "गुरुकुल" प्रकाशित हुआ। कवि ने इस काव्य के द्वारा सिक्ख सम्प्रदाय के इतिहास को दिखाने का सुन्दर प्रयास किया है। प्रस्तुत काव्य में गुरु नानक, गुरु अंगद, गुरु अमरदास, रामदास, अर्जुन, हरगोविन्द, हरराय, हरिकृष्ण, तेगबहादुर और गुरु गोविन्दसिंह जी का काव्यमय जीवन वर्णित है। गुरुकुल में सिक्ख गुरुओं के पारिवारिक जीवन का तो नहीं पर तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का सफल चित्रण हुआ है।

झंकार

मैथिलीशरण गुप्त जी के आध्यात्मिक गीतों का संकलन "झंकार" सर्वप्रथम संवत् 1986 में प्रकाशित हुआ। इसके अधिकांश गीत भक्ति से ओत-प्रोत हैं। कुछ नीति परक गीत भी हैं। प्रस्तुत काव्य की भाषा भाव को व्यक्त करने में पूर्णरूपेण समर्थ है। युगचेतना के प्रतिनिधित्व की दृष्टि से कवि का प्रयास प्रशंसनीय है।

साकेत

आधुनिक युग के महाकाव्यों में गप्तजी की अमर कृति साकेत का महत्वपूर्ण स्थान है। इस काव्य का प्रकाशन सं० 1988 वि० में हुआ। कविवर रवीन्द्रनाथ से प्रेरित होकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने एक लेख में कवियों द्वारा उपेक्षिता "उर्मिला" पर खेद प्रकट किया था। अतः मैथिलीशरणगुप्त ने

" साकेत " की रचना करके इस क्षति की पूर्ति की। साकेत का कथानक भारत की चिरविश्रुत राम-कथा है। प्रस्तुत काव्य में कवि ने राम-साहित्य से बहुत कुछ ग्रहण करते हुए भी कुछ नवीन एवं मौलिक उद्भावना की है, जैसे - उर्मिला विषयक सम्पूर्ण वृत्त, कैकेयी के विक्षोभ का मनोवैज्ञानिक कारण, चित्रकूट के समाज में कैकेयी का सफाई पेश करना आदि। इसमें समाज के विविध पक्षों का व्यापक चित्रण हुआ है।

" साकेत " महाकाव्य की गणना हिन्दी के श्रेष्ठ ग्रन्थों मे होती है।

यशोधरा

" यशोधरा " नामक प्रबन्धकाव्य का प्रकाशन संवत् 1989 वि० में हुआ। इस ग्रन्थ का उद्देश्य है पति परित्यक्ता यशोधरा के हार्दिक दुःख की व्यंजना तथा वैष्णव सिद्धान्तों की स्थापना। यशोधरा के माध्यम से कवि ने सन्यास पर गृहस्थ-प्रधान वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा की है। इसमें यशोधरा की त्यागमयी तपस्या तथा वात्सल्य भावना का सजीव चित्रांकन हुआ है। कथा का पूर्वार्द्ध चिरविश्रुत एवं इतिहास प्रसिद्ध है, परन्तु उत्तरार्द्ध कवि की कल्पना की सृष्टि है ।

यशोधरा का प्रमुख रस श्रृंगार है - श्रृंगार में भी विप्रलम्भ श्रृंगार का आधिक्य है। शिल्प की दृष्टि से एवं काव्य-रूप की दृष्टि से " यशोधरा " गुप्तजी के प्रबन्ध कौशल का परिचायक है।

द्वापर

सं० 1981 वि० में कवि का अनूठा प्रबन्धकाव्य द्वापर का प्रकाशन हुआ। राम के अनन्यभक्त होते हुए भी गुप्तजी ने द्वापर में कृष्ण-कथा का वर्णन

किया है। यह ग्रन्थ 16 खण्डों में विभक्त है। प्रत्येक खण्ड में कुछ पात्र आते हैं एवं अपने विषय में कुछ कहते हैं। पात्रों के नाम पर ही खण्डों का नामकरण हुआ है। इसमें श्रीमद्भागवद् के आधार पर श्रीकृष्ण एवं उनके कुछ भक्तों की झाँकियाँ वर्णित हैं।

सिद्धराज

" सिद्धराज " नामक प्रबन्धकाव्य संवत् 1993 में प्रकाशित हुआ। भारत के मध्यकालीन वीरों के चरित्र के प्रदर्शन के लिए इसका प्रणयन हुआ। इसमें पाटन के शासक सिद्धराज जयसिंह, मालवेश्वर नरवर्मा तथा महोबे के राजा मदनवर्मा के जीवन की घटनाएँ वर्णित हैं। इसमें पारस्परिक कलह के दुष्परिणम अभिभासित हैं।

मंगलघट

इसके उपरान्त संवत् 1994 में एक और कविता-संग्रह मंगल-घट के नाम से प्रकाशित हुआ। यह भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखी हुई 62 कविताओं का संकलन है।

नहुष

संवत् 1997 में गुप्तजी का नहुष नामक प्रबन्धकाव्य प्रकाशित हुआ। इसकी कथा का मूलाधार महाभारत है। प्रस्तुत काव्य में दिखाया गया है कि पुरुष इन्द्रपद को प्राप्त करके भी काम के प्रभाव से पतित हो जाता है। पतन होने के बाद पुनः उत्थान भी हो सकता है इस तथ्य को कवि ने " नहुष " काव्य के द्वारा प्रतिपादित किया है। समाज के पतित अथवा भ्रष्ट जनों के उन्नयन के लिए प्रेरित करने में प्रस्तुत काव्य पूर्णरूपेण समर्थ है।

कुणालगीत

" कुणालगीत " का प्रकाशन संवत् 1998 में हुआ। यह 95 गीतों का संकलन है। " कुणालगीत " का विषय भारतवर्ष की एक लोक प्रचलित कथा है, जिसमें सम्राट् अशोक के चरित्रवान पुत्र कुणाल एवं उसकी दुष्टा सौतेली मा तिष्य-रक्षिता की कथा है।

अर्जन और विसर्जन

" अर्जन और विसर्जन " नामक खण्डकाव्य सर्वप्रथम संवत् 1999 में प्रकाशित हुआ। " अर्जन " में कवि ने अधर्म द्वारा अर्जित धन की निन्दा की है।

विसर्जन के माध्यम से कवि ने बताया है कि यदि भारत इतना सम्पन्न देश न होता तो विदेशी आक्रमणकारी इसे इस भाँति पददलित न करते।

काबा और कर्बला

संवत् 1999 में " काबा और कर्बला " नामक खण्डकाव्य का प्रकाशन हुआ। इस काव्य के लिखने का उद्देश्य हिन्दू तथा मुसलमान की एकता की भावना को पुष्ट करना है।

विश्व-वेदना

" विश्व-वेदना " का प्रकाशन संवत् 1999 में हुआ। यह काव्य विश्व की वेदना से व्यथित कवि के कराह का ज्वलन्त उदाहरण है।

अजित

" अजित " प्रबन्धकाव्य संवत् 2003 में प्रकाशित हुआ। इसमें आधुनिक युग के सिद्धान्तों एवं यथार्थ घटनाओं का वर्णन किया गया है।

प्रदक्षिणा

" प्रदक्षिणा " नामक लघु काव्य संवत् 2007 में प्रकाशित हुआ। प्रदक्षिणा के अन्तर्गत कवि ने " रामकथा " का वर्णन संक्षिप्त ढंग से किया है।

पृथ्वीपुत्र

" पृथ्वीपुत्र " नामक लघु काव्य का प्रकाशन संवत् 2007 में ही हुआ। इस काव्य में दिवोदास, जयिनी एवं पृथ्वीपुत्र इन तीन संवादों का संग्रह किया गया है।

हिडिम्बा

संवत् 2007 में ही "हिडिम्बा " नामक खण्डकाव्य का प्रकाशन हुआ। इसका कथानक महाभारत से लिया गया है। इसमें भीम तथा हिडिम्बा राक्षसी के मिलन एवं परिणय-सम्बन्धी आख्यान को काव्य में परिणित किया गया है।

अंजलि और अर्घ्य

संवत् 2007 में " अंजलि और अर्घ्य " नामक काव्य का प्रकाशन हुआ। इसमें गुप्तजी ने गाँधी जी की मृत्यु से विह्वल होकर शोक प्रकट किया है।

जयभारत

महाभारत की बृहत् कथा के आधार पर लिखित जयभारत का प्रकाशन संवत् 2009 में हुआ। यह 47 खण्डों में विभक्त है। इसमें नहुष की कथा से लेकर पाण्डवों के स्वर्गारोहण तक की घटनाओं को संकलित किया गया है।

युद्ध

जयभारत का युद्ध शीर्षक अध्याय स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित हो चुका है। इसमें महाभारत का युद्ध वर्णित है।

राजा-प्रजा

" राजा-प्रजा " काव्य का सर्वप्रथम प्रकाशन संवत् 2013 में हुआ। प्रस्तुत काव्य में राजा और प्रजा के विषय में कवि के विचार प्रकट हुए हैं।

विष्णुप्रिया

विष्णुप्रिया गुप्तजी की नवीनतम रचना है। संवत् 2014 में विष्णुप्रिया का प्रकाशन हुआ। प्रस्तुत रचना में चैतन्य महाप्रभु तथा उनकी गृहिणी विष्णु-प्रिया का चरित कवितावद्ध हुआ है। इसमें शिक्षिता तथा संवेदनशील नारी के मन की गुत्थियों का बड़ा मार्मिक विश्लेषण हुआ है। कई दृष्टिकोणों से पति-पत्नी के संबंध पर भी प्रकाश डाला गया है। इसमें यह दिखाया गया है कि किस प्रकार व्यष्टि को समष्टिगत कल्याण के लिए अर्पित कर दिया जाता है।

रत्नावली

" विष्णुप्रिया " के पश्चात् संवत् 2017 में रत्नावली का प्रकाशन हुआ। प्रस्तुत काव्य में कविवर तुलसीदास की गृहिणी रत्नावली के व्यक्तित्व का चित्रांकन हुआ है।

लीला

इस गीतिकाव्य का प्रकाशन संवत् 2017 में हुआ।

उच्छवास

इस शोकगीत संग्रह का प्रकाशन सं० 2017 वि० में हुआ।

उपर्युक्त सभी काव्य कवि की मौलिक रचनाएं हैं। अभी तक उनकी 6 अनूदित रचनाएँ हैं। बंगाल के सुप्रसिद्ध कवि माइकेल की तीन रचनाओं का

अनुवाद इन्होंने हिन्दी में किया। " विरहिणी ब्रजाङ्गना का हिन्दी अनुवाद सन् 1914 ई० में प्रकाशित हुआ। वीरांगना नामक ग्रन्थ का अनुवाद सन् 1927 ई० में प्रकाशित हुआ। नवीन चन्द्रसेन रचित " पलाशीर युद्ध " का हिन्दी अनुवाद गुप्तजी ने किया एवं इसका प्रकाशन सन् 1920 ई० में हुआ। महाकवि भास प्रणीत " स्वप्नवासवदत्तम " नाटक का हिन्दी अनुवाद गुप्तजी ने किया एवं उसका प्रकाशन सन् 1928 ई० में हुआ। गुप्तजी द्वारा किया गया उमर खय्याम का हिन्दी अनुवाद सन् 1931 में प्रकाशित हुआ।

गुप्तजी द्वारा रचित कुछ कविताएँ और हैं, जिनका किसी संग्रह में संकलन नहीं हो सका है।

तत्कालीन परिस्थितियाँ

इसमें कोई संदेह नहीं कि कवि की दृष्टि देशकाल निरपेक्ष नहीं होती। वह निश्चित सीमा तक अपने युग से बँधा होता है। साहित्य युग विशेष का प्रतिबिम्ब होता है, अत: साहित्य में जन-भावनाओं का ही आलेखन होता है, यह उक्ति गुप्तजी के विषय में अक्षरश: सत्य है। समाज के चित्रण की दृष्टि से गुप्त-साहित्य के मूल्यांकन के लिए यह आवश्यक है कि हम गुप्त युगीन परिस्थितियों का पर्यवेक्षण करें। अध्ययन की सुविधा के लिए गुप्तयुगीन परिस्थितियों का हम पृथक-पृथक विचार करेंगे।

धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थिति -- जिस युग में गुप्तजी की कविता का प्रारम्भिक विकास हुआ था वह सुधारवादी आन्दोलन का युग था। उस समय रूढिग्रस्त समाज के सुधार के लिए, कुरीतियों को दूर करने के लिए तथा नवजागरण के लिए विभिन्न प्रकार के प्रयत्न हुए। उस समय समाज-सुधार के लिए भारत में अनेक संस्थाओं की स्थापना हुई। प्रत्येक संस्था का लक्ष्य समाज का सामूहिक विकास करना था।

इस युग में "ब्राह्मसमाज" ने सर्वप्रथम समाज-सुधार का कार्य किया। "ब्रह्म समाज" की स्थापना बंगाल में सन् 1828 में राजराममोहन राय ने की। इस संस्था के अन्तर्गत सामूहिक प्रार्थना संगीत और उपदेश आदि को महत्व प्रदान किया गया। इसमें मूर्तिपूजा का निषेध किया गया। इस संस्था ने सभी धर्मों के प्रति उदार भाव रखने के लिए लोगों को प्रेरित किया। "ब्रह्मसमाज" ने स्त्री-शिक्षा, सती-प्रथा, विधवा-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह और अकाल पीड़ितों की सहायता आदि कार्यों की प्रेरणा दी। इसने उदारता तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना का बहुत अधिक प्रसार किया।[1] राजा राममोहनराय की मृत्यु के पश्चात् महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्मसंस्था का व्यापक प्रचार तथा प्रसार किया। "ब्राह्म समाज" के सहारे हिन्दू समाज बहुत बड़े संकट से बच गया। "इसके प्रभाव से एक ओर तो समाज की कुरीतियों के निवारण का प्रयत्न हुआ दूसरी ओर लोग दूसरे धर्म में जाने से रोक लिए गए।"[2]

सामाजिक क्षेत्र में "ब्रह्मसमाज" के अतिरिक्त सुधार की भावनाओं से अनुप्राणित कई संस्थाओं का जन्म हुआ, जिनके द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है और जिनका देश के जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ा है।

सन् 1875 ई० में "आर्यसमाज" नामक धार्मिक एवं सामाजिक संस्था की स्थापना हुई। इसके प्रतिष्ठापक स्वामी दयानंद सरस्वतीजी थे। "आर्यसमाज" के सिद्धान्त का आधार विशुद्ध भारतीय था। स्वामी दयानंद सरस्वतीजी ने स्त्री-शिक्षा पर अत्यधिक बल दिया उन्होंने बाल विवाह, अनमेल विवाह, और वृद्ध विवाह को दूर करने का प्रयास किया तथा विधवा-विवाह का समर्थन किया। स्वामी जी ने भारतीयों को वेदों के मार्ग पर चलने के लिए आग्रह

1- जे० वी० फुर्नादो - इण्डिया थ्रू दि एजेस; संस्करण सन् 1961 ; पृ० 552

2- केशरीनारायणशुक्ल - आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत ;द्वितीय सन् 1961 पृ०-26-27

किया। "ब्रह्म समाज" की भाँति "आर्यसमाज" के अन्तर्गत मूर्तिपूजा को निषिद्ध माना गया। इस संस्था ने बाल-विवाह, बहुविवाह और बाल हत्या आदि का घोर विरोध किया। "आर्यसमाज" संस्था ने हिन्दी या संस्कृत के माध्यम से शिक्षा देने पर जोर दिया। "इस संस्था ने उन लोगों को भी हिन्दूधर्म में लाने का प्रयत्न किया जो ईसाई या मुसलमान बन गए थे।"[1] आर्य समाज का कार्य क्षेत्र बहुमुखी था। "यद्यपि उसका स्वरूप प्रधानतया धार्मिक और सामाजिक था, फिर भी उसके प्रभाव से शिक्षा, राजनीति आदि अछूते नहीं बचे।"[2]

सभी धर्मों का मूल उद्गम एक ही है, इस विचार को व्यक्त करने वाली संस्था "थियोसोफिकल सोसायटी" की स्थापना सन् 1875 में मैडम ब्लैवेटस्की एवं कर्नल एच0 एस0 आलकाट ने किया। "भारत में इस संस्था का स्थापन सन् 1889 ई0 में श्रीमती एनीबेसेन्ट ने किया। "थियोसोफिकल सोसायटी" ने "वसुधैव कुटुम्बकम्" का संदेश सुनाते हुए भारतीय सभ्यता और संस्कृति की रक्षा की। इस संस्था का मूल उद्देश्य सभी धर्मों को समान रूप से देखना, मानवों में परस्पर प्रेम को जाग्रत करना तथा ईश्वर में विश्वास उत्पन्न करना था।"[3]

सन् 1896 ई0 में देश में नवजागरण तथा पुनरुत्थान के लिए स्वामी विवेकानन्द ने "रामकृष्ण मिशन" संस्था की स्थापना की। सन् 1897 में रामकृष्ण मिशन का केन्द्रीय कार्यालय कलकत्ते से 5 मील दूर बेलूर में स्थापित किया गया। इसने देश के जागरण के लिए सराहनीय कार्य किया। इस संस्था ने

1- डा0 केशरी नारायण शुक्ल - आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत ; द्वितीय संस्करण ; सन् 1961 ; पृष्ठ - 26 - 27

2- वही, पृष्ठ - 32

3- जे0 बी0 फुर्लादो - इण्डिया थ्रू दि एजेस ; संस्करण सन् 1961 ; पृष्ठ - 555

प्राचीनता और नवीनता का समन्वय किया। इसने ईश्वर में विश्वास तथा मानवप्रेम आदि को जाग्रत करने के लिए सराहनीय कार्य किया है। "रामकृष्ण-मिशन" ने आरम्भ में आध्यात्मिक और फिर आगे चलकर लोक-सेवा के आदर्श की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया। इस प्रकार देश के विभिन्न भागों में प्रयास किया। इस प्रकार देश के विभिन्न भागों में स्थापित धार्मिक संस्थाओं ने भाषा, साहित्य, संस्कृति, सभ्यता, धर्म और शिक्षा तथा अपनी निर्बलताओं से उत्पन्न बुराइयों को दबाने का उद्योग किया। समाज सुधार के लिए "प्रार्थना समाज" "संस्था की स्थापना 1867 में महाराष्ट्र में हुई एवं बाद में बम्बई में 1868 में इस को संगठित किया गया। "प्रार्थना समाज" ने भी समाज में ईश्वरोपासना, अछूत-उद्धार, शिक्षा प्रचार, विधवा-विवाह, सामाजिक एकता अन्तर्जातीय विवाह और आस्तिकता आदि का प्रचार किया। इस संस्था ने जाति के भेद-भाव को दूर करने का प्रयत्न किया। विधवाओं के प्रति किए गए क्रूरताओं का निवारण करने का प्रयास किया। स्वामी रामतीर्थ एवं महर्षि अरविन्द ने भी समाज में मानव प्रेम, आस्तिकता आदि का प्रचार करते हुए नवजागरण-कार्य में काफी सहयोग दिया।"[1] "माधव गोविन्द रानाडे" प्रार्थना समाज के सर्वेसर्वा थे। उन्हीं के प्रयत्न से 1861 ई० में विधवा-विवाह समिति नामक संस्था का स्थापन हुआ।"[2]

इतना सब होते हुए भी अंग्रेजों ने व्यापार-नीति जमींदारी प्रथा और दमननीति द्वारा भारतवासियों का शोषण किया। उन्होंने अनिवार्य वस्तु पर अधिकाधिक कर लगाए तथा भारत में घरेलू उद्योगों को ध्वस्त कर दिया। इन सब कारणों से देश एवं समाज की आर्थिक अवस्था शोचनीय हो गयी। परस्पर असहयोग की भावना बढ़ गई। प्रत्येक क्षेत्र में भारतीय परमुखापेक्षी हो गये। बेकारी बहुत अधिक बढ़ गई। साधारण लोगों में हीन भावना बढ़ने लगी।

1- मोहनलालविद्यार्थी - इण्डिया"स कल्चर थ्रू दि एजेस ; सं० 1952 पृ० 364

2- डा० किरणचन्द्र चौधरी - भारतेर इतिहास कथा ; चतुर्थ संस्करण सन् सन् 1967 ई० ; पृष्ठ - 254

अतः तत्कालीन सामाजिक स्थितियों को देखने से पता चलता है कि जहाँ भारतीय सुधारवादी संस्थाओं ने लोगों में एकता, मानवप्रेम, नारी-उत्थान और समानता आदि भावों को जागृत किया था वहीं दूसरी ओर अँग्रेजों की आर्थिक शोषणनीति के कारण देश में दीनता और दरिद्रता बढ़ गई, समाज खोखला हो गया, किन्तु इन्हीं सब कारणों से देश में क्रान्ति और विद्रोह का अंकुर भी पनपने लगा ।

राजनीतिक परिस्थिति

राजनीतिक दृष्टि से गुप्तजी के साहित्य पर सन् 1857 ई० के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम से लेकर अब तक की घटनाओं का प्रभाव परिलक्षित होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में ब्रिटिश राजनीति में भेद नीति का विशिष्ट स्थान रहा है। इस्ट इण्डिया कम्पनी के समय से ही शासनाधिकार प्राप्त करने में अँग्रेजों ने सदैव दो दलों में भेद डालकर तथा उन्हें लड़ाकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इस देश में हिन्दू और मुसलमानों में भेद डालने की नीति शासनाधिकारियों में प्रारम्भ से ही रही है, किन्तु वह नीति सन् 1857 ई० तक अधिक सफल नहीं हो सकी, क्योंकि भारतीय क्रान्ति का नेतृत्व करने के लिए अन्तिम मुगल सम्राट बहादुरशाह ज़फर अग्रसर हुए थे, किन्तु क्रान्ति के अनन्तर प्रस्तुत ब्रिटिश नीति ने पूर्ण साफल्य प्राप्त किया।

"सन् 1857 ई० के पश्चात् महारानी विक्टोरिया ने भारतीयों के प्रति कुछ प्रतिज्ञाओं की घोषणा भी की थी जिनका पालन लार्ड लिटन के समय तक नहीं हुआ । सन् 1877 ई० में ब्रिटिश राजकुमार भारत आये। जनता ने उन्मुक्त हृदय से उनका स्वागत किया। सन् 1877 ई० में भारत में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा, किन्तु विदेशी सत्ता ने इसकी कोई चिन्ता नहीं की। इसी समय विपुल धनराशि का अपव्यय करके महारानी विक्टोरिया ने दिल्ली में एक दरबार का आयोजन किया। इस विराट आयोजन को देखकर देश के प्रमुख राष्ट्रीय व्यक्ति-

कार्यकर्त्ताओं ने अखिलभारतीय-संगठन की स्थापना करने का प्रयास किया। अतः देश में सन् 1885 ई० में कांग्रेस-कमेटी की स्थापना हुई। कांग्रेस-कमेटी की स्थापना जनता में स्नेह और सौहार्द उत्पन्न करने के लिए, शासकों को उनकी शासन सम्बन्धी त्रुटियाँ बताने के लिए तथा शासक और शासित के बीच फैली हुई वैमनस्य को दूर करने के लिए हुई।"[1]

कांग्रेस की स्थापना के पश्चात् सरकार ने सन् 1886 ई० में आयकर एक्ट बनाया, किन्तु उसका भयानक विरोध हुआ। सन् 1892 ई० में कांग्रेस के प्रयास से भारतीय परिषद-एक्ट बना। इस एक्ट के अनुसार परिषद में भारतीय निर्वाचित सदस्यों को स्थान मिला। "सन् 1898-99 में देश में भयंकर अकाल पड़ा, इसमें देश के अनेक लोग मारे गये। यह वही समय था जबकि बम्बई में भयंकर प्लेग फैला हुआ था। सन् 1903 में लार्ड कर्जन ने भारत में एक अत्यन्त विशाल एवं भव्य दरबार किया।"[2] बंगाल की जनता के घोर विरोध करने पर भी लार्ड कर्जन ने सन् 1905 में बंगाल को दो प्रान्तों में विभक्त कर दिया बंगाल की जनता इससे क्षुब्ध हो गयी एवं वंग-भंग के विरोध में आंदोलन खड़ा किया। "बंगाल की जनता ने इस आंदोलन के माध्यम से विदेशी बहिष्कार तथा स्वदेशी प्रचार पर विशेष रूप से बल दिया। इस आंदोलन के कारण बंगाल में राष्ट्रीयता की भावना सर्वत्र फैल गई।"[3]

"सन् 1906 ई० में कलकत्ते के कांग्रेस अधिवेशन में दादाभाई नौरोजी ने स्वराज्य के "हमारे जन्मसिद्ध अधिकार होनेकी उद्घोषणा की। इसी अवसर पर कांग्रेस के नेता श्री विपिनचन्द्रपाल और लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने

1- पट्टाभिसीतारमैया - कांग्रेस का इतिहास ; चतुर्थ संस्करण-1946 ई० ; पृष्ठ - 13-14

2- गुरुमुखनिहालसिंह - भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास ; पृष्ठ- 137 - 147.

3- मन्मथनाथगुप्त - राष्ट्रीय आंदोलन का इतिहास ; सन् 1962 ई० ; पृष्ठ संख्या - 252

स्वराज्य की स्थापना का प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जो सर्वसम्मति से स्वीकृत भी हो गया। सन् 1907 ई० में कांग्रेस के सूरत के अधिवेशन में उदार-पंथियों की विजय हुई तथा गोपालकृष्ण गोखले के नेतृत्व में कांग्रेस ने केवल औपनिवेशिक स्वराज्य को ही अपना लक्ष्य स्वीकार किया।"[1] "सन् 1910 ई० में सप्तम एडवर्ड की मृत्यु हो गई और सन् 1911 ई० में जार्ज पंचम के राज्याभिषेक के अवसर का लाभ उठाकर भारतीय सरकार ने बंग-विच्छेद कर दिया तथा भारत की राजधानी कलकत्ते से हटाकर दिल्ली में स्थापित कर दिया।"[2]

सन् 1914 ई० में प्रथम विश्व-युद्ध का श्री गणेश हुआ। इस समय कांग्रेस ने स्वतन्त्रता की मांग की; परन्तु ब्रिटिश सरकार ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। सन् 1918 ई० में विश्व-युद्ध समाप्त हुआ तथा कांग्रेस में में गांधी जी के प्रवेश से निम्न मध्य वर्ग का प्रभुत्व बढ़ गया। सन् 1919 ई० में रौलट बिल पास हुआ, जिसके विरुद्ध समग्र देश में हड़तालें हुईं। इस समय दिल्ली में प्रदर्शनकारियों पर गोलियां चलाई गईं। 13 मार्च को गांधीजी को कैद किया गया तथा जालियां वाले बाग की प्रसिद्ध दुर्घटना घटी। "सन् 1920 ई० में लोकमान्यतिलक का देहान्त हो गया। सन् 1921 ई० में गांधीजी को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया गया।"[3]

प्रिंस आफ वेल्स सन् 1921 ई० में भारत में आए। कांग्रेस ने पहले ही यह निश्चय कर लिया था कि युवराज की अगवानी का बहिष्कार किया जाए। यही किया गया। जगह-जगह विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई। इसी समय कांग्रेस का असहयोग-आन्दोलन आरम्भ हुआ इसमें बीस हजार से अधिक

1- धीरेन्द्र वर्मा - हिन्दी साहित्य ; प्रथम संक सन् 1969 ई० ;
; पृष्ठ - 21-22

2- पट्टाभिसीतारमैया - कांग्रेस का इतिहास ; पृष्ठ - 67

3- वही, पृष्ठ - 153 - 154

सत्याग्रही जेल गये। चौरा-चौरी के एक भीड़ ने 21 पुलिसवालों को निर्ममता से मौत के घाट उतार दिया अतः गाँधीजी ने इस आंदोलन को बंद करने का आदेश दिया। सन् 1922 को गाँधीजी को बंदी बनाकर 6 वर्ष का कारावास दण्ड दिया गया। सन् 1926 ई० में गाँधी जी को मुक्त कर दिया गया। सन् 1926 ई० में हिन्दू-मुस्लिम दंगे ने भयंकर रूप धारण किया। सन् 1927 ई० में हिन्दू-मुस्लिम की एकता के लिए कांग्रेस ने एक सम्मेलन किया। सन् 1929 में लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में कांग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने का लक्ष्य घोषित किया। 26 जनवरी सन् 1930 को पूर्ण स्वराज्य मनाने की बात स्थिर की गई। उस दिन एक घोषणा पत्र सभी जगह पढ़ा गया। "इस घोषणा पत्र में चर्खा चलाने, मदिरा का पूर्ण बहिष्कार करने तथा पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति को हटाने आदि बातों पर विशेष रूप से बल दिया गया।"[1]

सन् 1930 का कांग्रेस का इतिहास उग्र संघर्ष का इतिहास है जिसे पूर्ण स्वराज्य की ओर प्रयाण कहा जा सकता है। सन् 1930 ई० में गाँधीजी ने सविनय-अवज्ञा-आंदोलन प्रारम्भ किया एवं नमक कानून तोड़ा उन्होंने विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार किया सन् 1931 में लार्ड विलिंगडन वाइसराय होकर आए। तदनन्तर अंग्रेज अधिक से अधिक दमन-नीति का प्रयोग करने लगे। भगतसिंह को इसी वर्ष फाँसी की सजा दी गयी।" सन् 1935 में भारत सरकार विधि एक्ट बनाई गई, जिसके अनुसार सन् 1937 में सम्पूर्ण देश में निर्वाचन सम्पन्न हुए, इन निर्वाचनों में कांग्रेस का बहुमत रहा तथा कांग्रेस ने अपने मंत्रि-मण्डल बनाए।"[2] इसी समय यूरोप में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। विगत कतिपय वर्षों का भारत का राजनीतिक जीवन क्रान्ति से संचालित रहा। सन् 1942 ई० में द्वितीय विश्व-युद्ध की विभिषिका चरमसीमा पर थी। 9 अगस्त

1- पट्टाभिसीतारमैया - कांग्रेस का इतिहास ; चतुर्थ संस्करण ; 1946
पृष्ठ संख्या - 347 - 348

2- जयचन्द्रविद्यालंकार - इतिहास प्रवेश ; पृष्ठ संख्या - 761

सन् 1942 ई० में गान्धीजी की अध्यक्षता में "भारत - छोड़ो" आन्दोलन का प्रस्ताव पारित किया गया। गान्धीजी के नेतृत्व में भारत-छोड़ो आंदोलन उत्तरोत्तर प्रखर होता गया। गान्धीजी के आंदोलन की घोषणा के उपरान्त कांग्रेस के शीर्षस्थ नेता बन्दी बना लिए गए तथा कांग्रेस को अवैध संस्था घोषित कर दिया गया फलःस्वरूप जनता अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करने लगी। अंग्रेजों ने बड़ी निष्ठुरता के साथ जनता को दबाने का प्रयत्न किया, परन्तु इससे भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव हिल गई। सन् 1944 ई० में लार्ड वैवेल वायसराय नियुक्त हुए। उन्होंने सभी नेताओं को छोड़ दिया। "उनकी अध्यक्षता में भारत में एक अधिवेशन हुआ, परन्तु यह अधिवेशन असफल रहा।"[1]

पराधीनता से मुक्ति की वेला निकट आई। 20 फरवरी सन् 1947 ई० में ब्रिटिश सरकार के प्रधान मंत्री एटली ने यह घोषणा की कि जून 1948 तक भारत को स्वतन्त्र कर दिया जायगा। इसी वर्ष लार्ड वैवेल के स्थान पर लार्ड माउण्टबेटेन भारत के वाइसराय नियुक्त हुए। 15 अगस्त सन् 1947 को भारत को हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान दो भागों में विभक्त करके स्वतन्त्रता की घोषणा की गई। भारत को स्वतन्त्र हुए अभी पूरा एक वर्ष भी न हो पाया था कि नाथूराम गोडसे ने महात्मागाँधी की हत्या कर डाली। उनकी मृत्यु से समस्त देश में व्यापक विषाद छा गया। 26 जनवरी सन् 1950 ई० में भारत का संविधान लागू हुआ। नवीन विधान के अनुसार 26 जनवरी सन् 1950 को भारत सर्वसत्ताधारी गणतन्त्रात्मक राज्य घोषित किया गया इसी समय डा० राजेन्द्रप्रसाद राष्ट्रपति हुए। स्वाधीनता की प्राप्ति और निर्वाचित सरकार के गठन के पश्चात् देश के वरिष्ठ नेताओं ने समाज के सुधार के लिए कई महत्वपूर्ण कार्य किए। 1951 ई० में स्वतन्त्र भारत में सर्वप्रथम साधारण निर्वाचन हुआ। 12 मई से नव निर्वाचित भारतीय संसद की बैठक का निर्वाचन हुआ।

1- डा० ईश्वरीप्रसाद - भारतवर्ष का नवीन इतिहास ; पृष्ठ - 294

"सन् 1953 ई० में पश्चिम बंग जमींदारी उच्छेद विधि के अनुसार जमींदारी प्रथा का उन्मूलन हुआ।"[1] सन् 1954 ई० में विशेष विवाह विधि (Special Marriage Act) पास हुआ। इसके अनुसार रजिस्ट्री विवाह-प्रथा प्रचलित हुई। "सन् 1955 ई० में हिन्दू-विवाह विधि (Hindu Marriage Act) पास हुआ। इस विधि के द्वारा विशेष रूप से नारी वर्ग के अधिकारों की स्वीकृति मिली। इसके अनुसार लड़कों तथा लड़कियों के विवाह की आयु निर्धारित की गयी। विवाह के लिए लड़कियों की आयु 15 वर्ष तथा लड़कों की आयु 18 वर्ष वैध बताया गया। इसमें विवाह-विच्छेद अधिकार की स्वीकृति मिली।"[2] सन् 1956 ई० में हिन्दू उत्तराधिकार विधेयक (Hindu Succession Act) स्वीकृत हुआ। इस विधि के अनुसार विवाहिता कन्याओं को भी पैतृक सम्पत्ति में समानाधिकार दिया गया। इसी वर्ष 1 नवम्बर को भाषा के आधार पर देश को 14 राज्यों तथा 6 केन्द्रीय शासित प्रदेशों में विभक्त कर दिया गया। सन् 1957 ई० में द्वितीय चुनाव हुआ।"[3] इस प्रकार भारत-राष्ट्र क्रमशः प्रगति के पथ पर अग्रसर होता जा रहा है। गुप्तजी प्रायः सन् 1960 ई० तक काव्य-रचना करते रहे एवं इन सभी राजनीतिक परिस्थितियों का अत्यधिक रूप से उनके काव्य में प्रभाव पड़ा है।

साहित्यिक परिस्थिति

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही सन् 1903 ई० में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने "सरस्वती" नामक पत्रिका का सम्पादन-कार्य संभाला। वे मासिक पत्रिका "सरस्वती" के माध्यम से हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र को प्रभावित

1- दि वेस्ट बंगाल कोड ; सन् 1958 ई० ।

2- चटर्जी, सिंह और यादव - इम्पैक्ट आफ सोशल लेजिसलेशन आन सोशल चेन्ज ; सन् 1971 ; पृष्ठ - 57

3- इण्डिया कोड ; सन् 1956

कर रहे थे। अतएव द्विवेदी युग आरम्भ हो गया था। उन्होंने खड़ी बोली में कविता करने की प्रेरणा दी। 'इस युग की विशेषताओं में काव्य की स्थूलता, वाह्यवर्णन, इतिवृत्तात्मकता शृंगार रस से विरक्ति, पौराणिक कहानियों से प्रेम, उपदेश की प्रधानता, नैतिकता की ओर अधिक झुकाव एवं प्रकृति चित्रण की बहुलता विशेष रूप से द्रष्टव्य है।"[1] भारतेन्दु काल की अपेक्षा इस काल में आकर वर्ण्य विषय में पर्याप्त परिवर्तन हुआ। कवियों के अन्तर्गत देश, राष्ट्र, समाज और संस्कृति की भावना उदित हुई। वे प्रत्येक वस्तु में सुधार की ओर अग्रसर होने लगे। अवतारों और देवी देवताओं के मानवीकरण की प्रवृत्ति प्रमुख हो गई। राम तथा कृष्ण की अलौकिक कथाओं को मानवजीवन के सर्वथा अनुकूल बनाकर काव्य रूप देने लगे। "इस युग में मानतावादी दृष्टिकोण अत्यधिक विकसित हुआ और कवि "वसुधैव कुटुम्बकम" की भावना से ओत-प्रोत होकर काव्य की सृष्टि करने लगे।"[2] आचार्य रामचन्द्रशुक्ल ने द्विवेदी युग के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है-- "अपने पूर्ववर्तीयुग की तुलना में द्विवेदी युग की राजनैतिक या राष्ट्रीय-कविता अतीत से वर्तमान, कल्पना से यथार्थ, उपदेश से कर्म, प्रार्थना से स्वावलम्बन, निराशा तथा अविश्वास से आशा तथा विश्वास और दीनतापूर्ण नम्रता से क्रान्तिपूर्ण उद्गार की ओर अग्रसर होती गई है।"[3]

इसके उपरान्त द्विवेदी युगीन नीतिपरक, इतिवृत्तात्मक कविता-प्रणाली के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हुई, जिसके परिणाम स्वरूप एक नये युग का श्री गणेश हुआ, जो छायावादी युग के नाम से प्रसिद्ध है।

1- डा० केशरीनारायण शुक्ल - आधुनिक काव्यधारा ; पृष्ठ संख्या - 117

2- वही, पृष्ठ संख्या - 124

3- रामचन्द्रशुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास ; बारहवाँ संस्करण ; पृष्ठ संख्या - 615

आधुनिककाल में द्विवेदी युग के उपरांत का सन् 1936 ई० तक का युग छायावाद युग कहलाता है। शुक्लजी ने छायावाद की परिभाषा करते हुए लिखा है, 'छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के रूप में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य वस्तु से होता है, अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार व्यंजना करता है। रहस्यवाद के अन्तर्गत रचनाएं पहुँचे हुए पुराने सन्तों या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती है, जो तुरीयावस्था या समाधि-दशा में नानारूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थी। इस रूपात्मक आभास को योरोप में "छाया" फैंटाजमाटा कहते थे। इसी से बंगाल में ब्राह्म समाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे, वे छायावाद कहलाने लगे। धीरे- धीरे यह शब्द धार्मिक क्षेत्र से वहाँ के साहित्य-क्षेत्र में आया और फिर रवीन्द्रबाबू की धूम मचने पर हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र में भी प्रकट हुआ।"[1]

इस युग की काव्य भाषा में लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता एवं ध्वन्यात्मकता का पुट अधिक दिया जाने लगा। "छायावादी काव्यधारा में कई विशेषताएँ मुख्य रूप से पाई गयीं। प्रतीक पद्धति, पलायनवादी प्रवृत्ति, आत्म अभिव्यंजन, व्यक्तिवाद और निराशा, नियंत्रण का अभाव, प्रकृति का आलम्बन रूपों में वर्णन, वर्तमान से असंतोष, स्वर्णिम अतीत के प्रति प्रेम, "उस पार" की अभिलाषा, मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, मानवता का महत्व, राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति में कल्पना का प्राचुर्य एवं प्रकृति में चेतना का आरोप आदि मुख्य विशेषताएँ हैं।[2] छायावादी युग के अन्तर्गत पौराणिक

1- रामचन्द्रशुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास ; बारहवाँ संस्करण ; पृष्ठ संख्या - 615

2- कन्हैयालालसहल - वाद-समीक्षा ; सन् 1952 ई० ; पृष्ठ संख्या- 9

एवं ऐतिहासिक कथावस्तु में भी आधुनिक मानव-जीवन के मार्मिक चित्र अंकित करने की प्रवृत्ति रही। नाटक, कहानी, उपन्यास, आलोचना आदि सभी विधाओं में भारतीय एवं पाश्चात्य कला का सम्मिश्रण करके नूतन प्रणाली का अनुसरण किया गया।

तदनन्तर हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित सामाजिक और बौद्धिक तत्व मुखर होते हैं। सामाजिकता के आग्रह से हिन्दी साहित्य में जिस प्रवृत्ति का उद्भव हुआ वह प्रगतिवाद नाम से जाना जाने लगा। "छायावाद के पश्चात् एक ऐसे साहित्य की रचना हिन्दी में आरम्भ हुई जिसमें साधारण लोगों, किसानों, मजदूरों के विचारों को अभिव्यक्ति दी जाने लगी। यह साहित्य स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व, विश्व-बन्धुत्व, मानवता प्रेम आदि से ओत-प्रोत होकर शोषित वर्ग को राजनीतिक क्रान्ति के लिए प्रोत्साहन देने के लिए लिखा गया। यह विचारधारा साहित्य की अपेक्षा राजनीतिक अधिक थी। इसीकारण आगे चलकर इसके दो भाग हो गए। एक वर्ग सचेत होकर निश्चित अवश्य सामाजिक-राजनीतिक प्रयोजन से साम्यवादी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति को अपना परम कवि कर्त्तव्य मानकर रचना करने लगा। दूसरे वर्ग ने सामाजिक-राजनीतिक जीवन के प्रति जागरूक रहते हुए भी अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बनाए रखा। यह दूसरा वर्ग प्रयोगवादी साहित्यकारों का बना।[1] अज्ञेयजी के विचारानुसार "प्रयोगशील कविताओं में नये सत्यों या नई यथार्थताओं का जीवित बोध भी है, उन सत्यों के साथ नए रागात्मक सम्बन्ध भी हैं और उनमें पाठक या सहृदय तक पहुँचने यानी साधारणीकरण करने की शक्ति है।"[2] इसमें कुछ सन्देह नहीं कि प्रयोगवाद में नए-नए उपमानों का प्रयोग किया गया, कुछ प्रतीक भी अपनाए गए हैं, किन्तु

1- कन्हैयालाल सहल - वाद-समीक्षा ; सन् 1952 ई० ; पृष्ठ - 53

2- अज्ञेय (सम्पादक) - तार सप्तक ; भाग - 1 ; भूमिका ।

ये प्रयास कहीं-कहीं ही अच्छे जान पड़े हैं। 'अधिकांश कविताओं में " अटपटे " " अनगढ़ " एवं भैदेस कल्पना-चित्रों का ही समावेश रहा।'[1] इसके साथ ही इस कविता में विशृंखलता एवं उच्छृंखलता भी पर्याप्त मात्रा में बनी रही। "इसमें भावहीन, इन्द्रिय बोधहीन, कथनों की भरमार रही। ये तथ्य-कथन कभी खण्डित होते, कभी अखण्डित, कभी तुकबन्दी में बँधे होते, तो कभी बेतुके भटकते फिरते।[2] इस प्रकार गुप्तजी के रचना काल में हिन्दी काव्य धारा ने विभिन्न मोड़ लिये हैं।

तत्कालीन परिस्थितियों का गुप्तजी पर प्रभाव

मनुष्य समाज की एक इकाई है, समाज के बाहर उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। समाज ही उसके अस्तित्व और विकास का मूल आधार है। "मनुष्य को जिस प्रकार समाज से पृथक नहीं किया जा सकता उसी प्रकार कलाकार की कला और उसके व्यक्तित्व के बीच विभाजन की रेखा खींचना असम्भव है। दोनों एक दूसरे से प्रभावित होते हैं तथा दोनों एक दूसरे को प्रेरित करते हैं।- कलाकार अपने व्यक्तित्व के माध्यम से जीवन को समझने का प्रयत्न करता है।"[3] अतः युग और परिस्थितियों का व्यक्ति के व्यक्तित्व गठन में महत्वपूर्ण हाथ है। गुप्तजी अपने युग के प्रतिनिधि कवि हैं। इन्होंने अपने काव्य में तत्कालीन देश और काल की प्रत्येक विचारधारा, संस्कृति और साहित्यिक चेष्टाओं का सम-वय तथा सफल अभिव्यंजन किया है। वे अपने युग के वैतालिक हैं। उन्होंने अपने दीर्घकालीन काव्यक्षेत्र में अनेक काव्य-ग्रन्थों का प्रणयन किया है। उनके सभी काव्य किसी न किसी रूप में अपनी युगीन परिस्थितियों से प्रभावित हैं।

1- रामचन्द्रशुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास ; बारहवां सं0, पृ0-616

2- समालोचक - मासिक पत्रिका(आगरा); नवम्बर 1958 ; पृष्ठ - 5

3- डब्लू॰एच॰हडसन-एन इन्ट्रोडक्शन टू दि सटडी आफ लिटरेचर;द्वि॰सं;पृ0-17

उनकी प्राय: सभी कृतियों में आधुनिक युग की प्रमुख प्रवृत्तियों एवं मनोवृत्तियों का समावेश हुआ है। अब यह देखना है कि कवि अपने सामाजिक परिस्थितियों से किस प्रकार प्रभावित हुआ है।

आधुनिक युग में "ब्राह्म समाज," आर्य समाज, " थियोसोफिकल सोसायटी," प्रार्थना समाज, रामकृष्णमिशन, अखिल भारतीय कांग्रेस समिति आदि सुधारवादी संस्थाओं ने समाज में नवजागरण का संदेश दिया। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, एनीबेसेंट, स्वामी विवेकानन्द, स्वामीरामतीर्थ, अरविन्द घोष, महात्मागाँधी आदि विचारकों ने अपने मूल्यवान विचारों द्वारा जनता के अन्धविश्वास, स्वार्थरत, संकीर्णता तथा रूढ़िग्रस्तता आदि को अपसारित करते हुए उनमें देशप्रेम, स्वतन्त्रता, विश्व-बन्धुत्व, उदारता, सहिष्णुता समाजसेवा एवं सर्वधर्म प्रियता इत्यादि भावनाओं को जगाने का प्रयत्न किया। तत्कालीन संस्थाओं ने अछूतोद्धार, शिक्षा-प्रसार, नारी-पुरुष की समानता, सामाजिक एकता, आस्तिकता, मानव-प्रेम, आत्मसंयम आदि के लिए सफलतापूर्ण कार्य किया। इन समाज-सुधार के प्रयत्नों से कविवर गुप्तजी अछूते नहीं रह सके। इसी कारण उनकी समस्त कृतियों में तत्कालीन आन्दोलनों, क्रान्तियों संघर्षों एवं विचारों की झलक किसी न किसी रूप में पायी जाती है।

समाज-सुधार में संलग्न सभी संस्थाओं के प्रवर्त्तकों ने इस बात पर बल दिया था कि देश में इसप्रकार के समाज की रचना होनी चाहिए जो प्रत्येक प्रकार से सुखी एवं समृद्ध हो, जिसमें सभी लोग शिष्ट और उद्योगी हों, जिन्हें किसी प्रकार की आधि-व्याधि न हो सभी व्यक्ति कला प्रेमी हों, घर-घर आनन्द फैला हो। " साकेत " में कवि एक आदर्श समाज की ओर संकेत करता हुआ कहता है :-

" एक तरु के विविध सुमनों से खिले,
पौरजन रहते परस्पर हैं मिले।

स्वस्थ, शिक्षित, शिष्ट, उद्योगी सभी,
बाह्यभोगी, आन्तरिक योगी सभी,
व्याधि की बाधा नहीं तन के लिए,
आधि की शंका नहीं मन के लिए।"[1]

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व अन्याय एवं अत्याचार के प्रति विद्रोह की भावना जन-जन में जागृत हो चुकी थी। व्यक्ति अन्याय सहन नहीं कर सकता था। कवि ने इसी प्रवृत्ति से प्रभावित होकर पौराणिक आख्यान के माध्यम से जयद्रथ वध में लिखा है :-

" अधिकार खोकर बैठ रहना यह महा दुष्कर्म है,
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है। "[2]

आलोच्य काल में अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने एवं उन्हें छीनने वालों के प्रति विद्रोह करने की भावना जाग्रत हो गई थी। स्वत्व का अपहरण करने वालों को जनता सहन नहीं कर सकती थी। उचित अधिकार को प्राप्त करने की भावना उनमें जग चुकी थी। जन-जीवन की इस मनोवृत्ति को कवि ने लक्ष्मण की माता सुमित्रा के शब्दों में चित्रित किया है :-

" स्वत्वों की भिक्षा कैसी? दूर रहे इच्छा ऐसी,
उर में अपना रक्त बहे, आर्य भाव उद्दीप्त रहे।
पाकर वंशोचित शिक्षा, मांगेगी हम क्यों भिक्षा?
प्राप्य याचना वर्जित है, आप भुजों से अर्जित है।
हम पर-भाग नहीं लेंगी, अपना त्याग नहीं देंगी,

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 22-23
2- मैथिलीशरणगुप्त - जयद्रथ वध ; चौवनवाँ संस्करण, 2025 वि०; पृ० - 5

वीर न अपना देते हैं, न वे और का लेते हैं।
वीरों की जननी हम हैं, भिक्षा-मृत्यु हमें सम है।" 1

आधुनिक युग में नारी को पर्याप्त स्वतन्त्रता मिल गई। नारी को पुरुष के समान ही समाज का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाने लगा। उसे स्वावलम्बी बनाने के लिए प्रेरणा प्रदान की गई। नारी के प्रति आधुनिक क्रान्तिकारी विचारों में जो प्रगति हुई है, उसकी झाँकी गुप्तजी के काव्य-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर मिलती है। साकेत में सीता के कथन में नारी के स्वावलम्बी जीवन का चित्र द्रष्टव्य है :-

" औरों के हाथों यहाँ नहीं पलती हूँ,
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ। "2

आलोच्यकाल में समाज सेवी संस्थाओं ने सेवा-भाव तथा परोपकार का प्रचार किया। गुप्तजी के वक-संहार में यह प्रभाव परिलक्षित है :-

" जन एक देता प्राण है,
होता सभी का त्राण है।
सबके लिए निज नाश करना भी भला। "3

तत्कालीन समाज में यह दृष्टिकोण रखा गया कि नर-नारी दोनों एक दूसरे के बिना अपूर्ण हैं, और दोनों का कार्य बिना एक दूसरे के सहयोग के नहीं चल सकता। इस दृष्टिकोण के प्रभाव से कवि अछूता नहीं रहा।

चोरी-चोरी सिद्धि हेतु स्वामी के चले जाने पर यशोधरा को खेद है, क्योंकि यदि वे बताकर जाते तो निश्चय ही यशोधरा स्वामी के

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ -101-102
2- वही, पृष्ठ - 223
3- मैथिलीशरणगुप्त - वक-संहार ; प्र० सं०, 2021 वि० ; पृष्ठ - 25

पथ का बाधक न बनकर सहायिका होती :-

" सखि वे मुझसे कह कर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते? "[1]

गुप्तजी के काव्य की नारी अपने दबेपन से ऊपर उठना चाहती है। वह अब दासता से समानाधिकार चाहती है, अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए वकालत करती है। उनकी नारी पात्र समान अधिकार की हिमायती हैं :-

" अधिकारों के दुरुपयोग का
कौन कहाँ अधिकारी
कुछ भी स्वत्व नहीं रखती क्या
अर्द्धांगिनी तुम्हारी "[2]

विद्रोह के रूप में गुप्तजी ने नारी समस्याओं को हल करने का प्रयास किया है। पुरुष के अत्याचार से असह्य होकर नारी फटकारती हुई कहती है कि स्त्री क्या मात्र वासना पूर्ति के लिए ही है? :-

" हाय वधू ने क्या वर विषयक,
एक वासना पाई।

1- मैथिलीशरणगुप्त - यशोधरा ; सं0 2025 वि0 ; पृष्ठ - 31-32
2- वही, " - द्वापर ; सं0 2027 वि0 ; पृष्ठ - 33

नहीं और क्या कोई उसका,
पिता, पुत्र या भाई।
नर के बाँटे क्या नारी की,
नग्न मूर्ति ही आई।
माँ, बेटी या बहिन हाय! क्या
संग नहीं वह लाई। "[1]

अतः गुप्तजी की नारी कल्पना-प्रसूत न होकर एक शाश्वत मानवी है। आधुनिक नारी-स्वातन्त्र्य विचारधारा से प्रेरित होकर ही उन्होंने यशोधरा, उर्मिला, कैकेयी, सैरन्ध्री, विधृता सबकी समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है।

तत्कालीन राजनीति की प्रवृत्तियों से प्रभावित होने के ही कारण विश्व-वेदना, राजा-प्रजा, भारत-भारती एवं कैतालिक जैसी रचना कर सके हैं। विश्व-वेदना में युद्ध और शान्ति के प्रश्न का समाधान प्रस्तुत किया गया है।

गुप्तजी के काव्य-काल का प्रारम्भ 1901 ई० से होता है। 1903 ई० से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने " सरस्वती नामक पत्रिका का सम्पादन

1- मैथिलीशरणगुप्त - द्वापर ; सं० 2027 वि० ; पृष्ठ - 35

प्रारम्भ किया। द्विवेदी जी ने साहित्य के क्षेत्र में सरस्वती के माध्यम से खड़ी बोली का परिष्कार प्रारम्भ किया। गुप्तजी ने उनके द्वारा निर्धारित साहित्य के आदर्शों का अनुगमन किया। इस युग की विशेषताओं में वर्णन की स्थूलता, वाह्यवर्णन, इतिवृत्तात्मकता, पौराणिक कहानियों से प्रेम, उपदेश देने की प्रधानता, नैतिकता की ओर अधिक झुकाव तथा प्रकृति-चित्रण की बहुलता आदि आती हैं। द्विवेदी जी ने ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली में कविता लिखने के लिए आग्रह किया। इसका सर्वाधिक और सर्वोत्कृष्ट प्रभाव गुप्तजी पर पड़ा। गुप्तजी की अधिकांश रचनाओं का वर्ण्य-विषय पौराणिक अथवा ऐतिहासिक है। इनके काव्य में उपदेशात्मकता स्पष्टत: प्रतिभासित होती है। इतना ही नहीं, युग और देश की आवश्यकताओं के प्रति जागरूक रहने के कारण गुप्तजी के काव्य में देश, राष्ट्र और समाज के प्रति उत्कट एवं असीम प्रेम का समावेश हुआ। इनकी कविता में आत्मविश्वास, आत्म-गौरव और वीर-पूजा का भाव भी प्रभूत परिमाण में दृष्टिगोचर होता है। गुप्तजी के काव्य का छन्दोविधान भी महत्वपूर्ण है। इन्होंने प्राचीन दोहा, छप्पय, कुण्डलियाँ तथा संस्कृत के विविध वर्ण वृत्तों का प्रयोग यत्रतत्र की किया है। इनसे अधिक इन्होंने स्वनिर्मित एवं नवीनत: प्रचलित वर्णवृत्तों, मात्रिक छन्दों तथा गीतों का प्रयोग किया है। प्राचीन पारम्परिक अलंकारों के अतिरिक्त पाश्चात्य काव्य-जगत में बहुप्रचलित अन्वर्थ ध्वनि, विशेषण-विपर्यय तथा मानवीकरण आदि नवीन अलंकारों का भी इन्होंने यथेष्ट प्रयोग किया है। पूर्ववर्ती कवि प्रकृति का उपयोग मुख्यत: उद्दीपन के रूपमें करते थे। गुप्त जी के काव्य में हम मुख्यत: आलम्बन के रूप में और कई स्थानों पर आश्रय के रूप में भी प्रकृति का चित्रण पाते हैं। अचेतन पर चेतनता का आरोप तथा मानवीकरण की प्रवृत्ति के प्रति आग्रह के कारण ही गुप्तजी के काव्य में इस नवीन वैभव के दर्शन होते हैं। गुप्तजी युग की विश्व-चेतना से भी पूर्णत: सम्पृक्त थे। उन्होंने देश-भक्ति तथा धर्म-प्रेम के साथ ही मानवतावाद का भी समर्थन किया है।

गुप्तजी के काव्य में हिन्दी साहित्य के कई युगों का प्रभाव परिलक्षित होता है। उनके दीर्घ काल व्यापी रचना काल को ही इसका श्रेय है। उनमें एक साथ ही द्विवेदी युग, छायावादी युग, प्रगतिवादी युग तथा प्रयोगवादी युग की छाप दिखाई पड़ती है, किन्तु इस विषय में अन्य कवियों से अन्तर इतना ही है कि अन्य कलाकार जहाँ युगीन प्रवृत्ति में सर्वथा प्रवाहित हो गये वहाँ गुप्तजी ने मूल प्रवृत्तियों को आत्मसात कर लिया और उन्हें अपने हृदय के आदर्श तथा सुरुचि के साँचे में ढाल कर ही अभिव्यक्त किया। देश विदेश की किसी प्रवृत्ति का उन्होंने न तो त्वरा के साथ ग्रहण या परित्याग किया और न अंधानुकरण ही। जिस प्रकार मधुमक्खियाँ फूलों के पराग ले आती हैं और उन्हें अपने अन्तःस्थ, वैभव और शिल्प-प्रक्रिया द्वारा मधु का रूप दे देती हैं, उसी प्रकार गुप्तजी संसार भर से भाव, वाद और वृत्त का संकलन करते दिखाई देते हैं किन्तु भारतीय जीवनादर्श एवं रस-चक्र से सम्पृक्त होकर वे सारी संगृहीत वस्तुएँ उत्कृष्ट रसात्मक अभिव्यक्ति के रूप में मधु-तुल्य होकर मधु-परिवेशन करती हुई काव्य-प्रेमियों को मधुमती भूमिका में पहुँचाने में समर्थ हो जाती हैं।

समकालीन समाज पर गुप्तजी का प्रभाव

उभर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज की आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा अन्यान्य परिस्थितियों ने गुप्तजी को यथेष्ट प्रभावित किया, किन्तु प्रतिभाशाली व्यक्ति के साथ केवल इतना ही नहीं हुआ करता। वे युग से प्रभाव ग्रहण करते हैं और युग को दिशा निर्देश भी देते हैं। " भारती-भारती " में कवि ने अत्यन्त सरल भाषा में देश की दयनीय दशा का उद्घाटन किया है और देश भावना की प्रवृत्ति को जगाने का प्रयास किया है। " विकट-भट ", वैतालिक, रंग में भंग, और साकेत आदि ग्रन्थों के द्वारा कवि ने देश भक्ति की भावना जगाकर तत्कालीन सुषुप्त समाज का

उद्बोधन किया है। यशोधरा और साकेत की रचना के द्वारा उन्होंने नारी समाज के भीतर गौरव, आत्मविश्वास और साहस का भाव जगाया है। उनके ग्रन्थों के छोटे बड़े पात्र अनेक प्रकार के सामाजिक जीवनादर्श उपस्थित कर सकने में समर्थ हैं। अहिंसा-भावना, अस्पृश्यता, जाति-भेद और परमुखापेक्षिता आदि का विरोध कर इन्होंने तत्कालीन समाज का निद्राभंग करने का प्रयास किया है। इनके प्रबन्ध काव्यों में कथा की रोचकता और मार्मिक प्रसंगों का विधान ऐसा उत्कृष्ट प्रतीत होता है, जिससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता। गुप्तजी ने गाँधीवादी विचारधारा, नाना प्रकार के समाज सुधार तथा देश-भक्ति की भावना के प्रसार के द्वारा तत्कालीन समाज को अतिशय प्रभावित किया है। प्रतिभाशाली महाकवि सदैव युग से जितना प्रभाव ग्रहण करता है उससे अधिक युग को प्रभावित भी करता है। शताब्दियों की दासता की शृंखला तोड़कर भारत आज जिस प्रकार स्वाधीन और सार्वभौम राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित हो सका है उसके मूल में मैथिलीशरणगुप्त जैसे कवियों का बहुत बड़ा योगदान है। राष्ट्र की सारी आशाओं और आकांक्षाओं को गुप्तजी के काव्य में अभिव्यक्ति मिली। इतना ही नहीं देश के जर्जर जीवन में इनकी ओजस्विनी कविता ने नवचेतना का संचार किया। इन्होंने युग के युवकों और युवतियों को देशभक्ति के भाव से भावित कर कर्त्तव्य-पथ का दिशा संकेत दिया। इसीलिए समालोचकों तथा साहित्य प्रेमियों ने इन्हें राष्ट्र कवि के रूप में स्वीकार किया।

- ग -

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का लक्ष्य; गुप्तजी के काव्य में चित्रित समाज के अध्ययन का प्रयोजन

काव्य में चित्रित समाज का स्वरूप कवि की स्वकीय उद्भावनाओं का फल होता है। कवि की कल्पना में सृष्टि की जिस वस्तु का जैसा स्वरूप प्रतिभासित होता है, उसका वैसा ही चित्रण कर दिया जाता है। समाज का यह कल्पित स्वरूप अतिरंजित हो अथवा यथार्थ हो, किन्तु होता है वायव्य, कल्पनाप्रसूत एवं विषयीगत ही। सफल कवि अपने चित्रण को यथासम्भव यथार्थवत् आकर देता है। चित्रण या अभिव्यक्ति के पश्चात् कृति कर्त्ता से पृथक हो जाती है और वह भी विश्व के नाना पदार्थों की भाँति एक वस्तु के रूप में स्वीकृत होती है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का प्रयोजन गुप्तजी के काव्य में चित्रित समाज के वस्तुगत या विषयगत अध्ययन से है। इसका विषयीगत अध्ययन से कोई सम्बन्ध नहीं। विषयीगत अध्ययन विशुद्ध मनोविज्ञान का विषय है और उसका क्षेत्र पृथक है। अतएव इस शोध प्रबन्ध में काव्य के सामान्य पाठक की दृष्टि से, गुप्तजी के द्वारा चित्रित समाज का, केवल विषयगत अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। यहाँ विषयीगत उपकरणों की चर्चा वहीं और उतनी ही मात्रा में की जायगी, जहाँ यह अनिवार्य प्रतीत होगा।

कवि द्वारा चित्रित समाज का स्वरूप प्राय: आदर्श और उदात्ततर भूमि पर प्रतिष्ठित होता है। उसमें अपरिमेय प्रभविष्णुता होती है। काव्य की सम्प्रेषणीयता के रसात्मक होने के कारण जन-मानस के साथ इसके प्रति रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। बहुधा कवि की प्रचेष्टा से सामाजिक क्रान्ति भी हो जाती है। समाजसुधारकों तथा समाज के नवनिर्माताओं के रूप में कवि का महत्व अन्य किसी भी वर्ग के लोगों से अधिक है। सामान्य व्यक्ति

कवि के चित्रित समाजकेसाथ अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और अपने परिवेश को उसी के अनुकूल बनाने का प्रयास करता है। इस दृष्टि से कवि के द्वारा चित्रित समाज का महत्त्व बड़ा ही मूल्यवान विषय बन जाता है। इन्हीं कारणों से प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का लक्ष्य " राष्ट्रकवि मैथिलीशरणगुप्त के काव्य में समाज-चित्रण " रखा गया है।